गीता-नवनीत

श्रीमद्भगवद्गीता की नवीन व्याख्या,
मूल और भाषानुवाद

वासुदेवशरण अग्रवाल

गीता नवनीत

श्रीमद्भगवद्गीता की नवीन व्याख्या,
मूल और भाषानुवाद

वासुदेवशरण अग्रवाल
काशीविश्वविद्यालय

श्री गोपीनाथ सम्पत्ति, लखनऊ
१९६४

प्रकाशक
क्रष्णमुरारि अग्रवाल
मन्त्री,
श्री गोपीनाथ सम्पत्ति
अग्रवाल कोठी
शिवाजी मार्ग, लखनऊ

प्राप्ति स्थान

१. अग्रवाल कोठी, शिवाजी मार्ग, लखनऊ
२. पृथिवी प्रकाशन, B १/१२२ डुमराँव कोठी, अस्सी, वाराणसी–५

मुद्रक
नरेन्द्र भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस,
गायघाट, वाराणसी

लाला झब्बामल साहजी

जन्म
सम्वत् १९१७
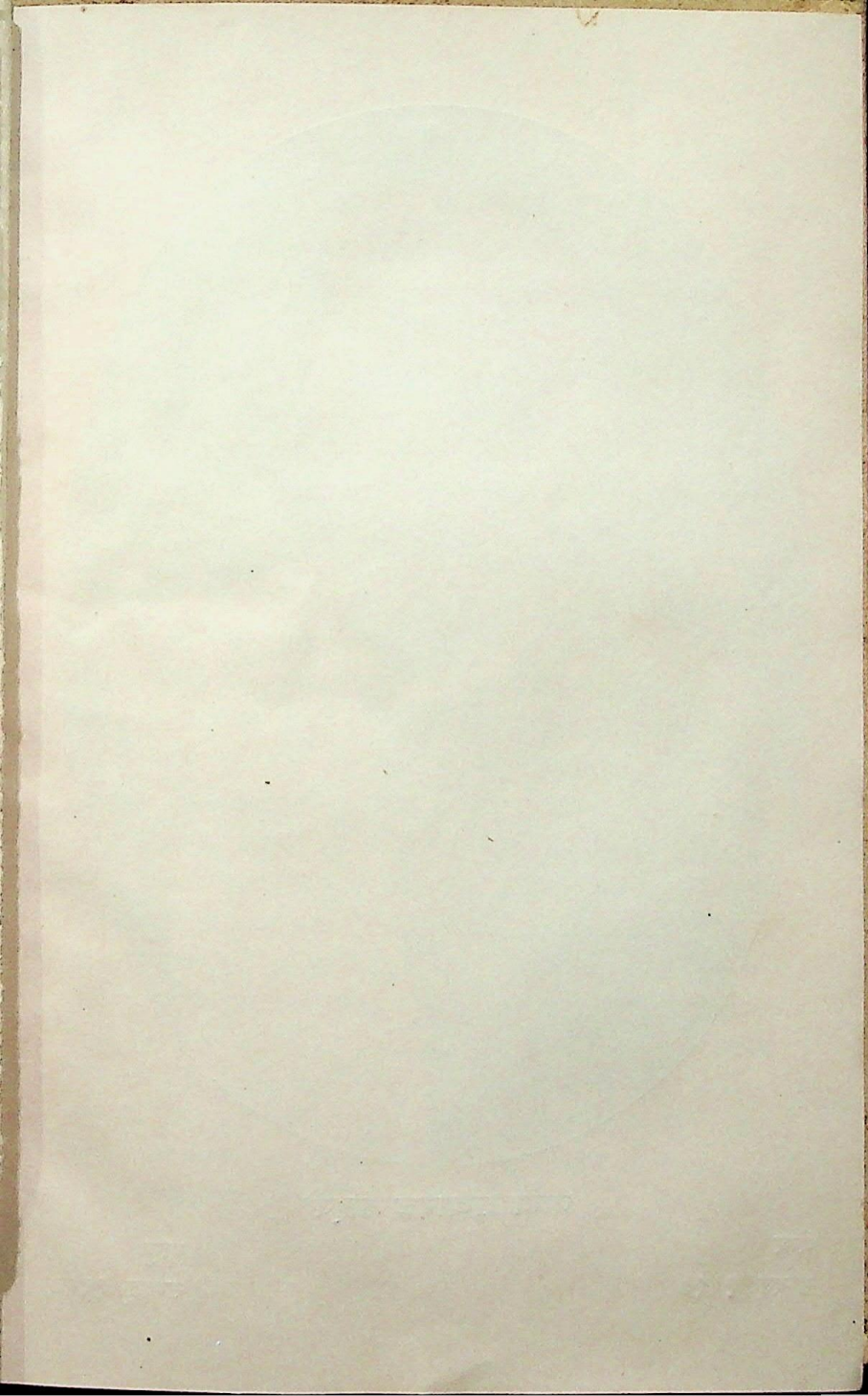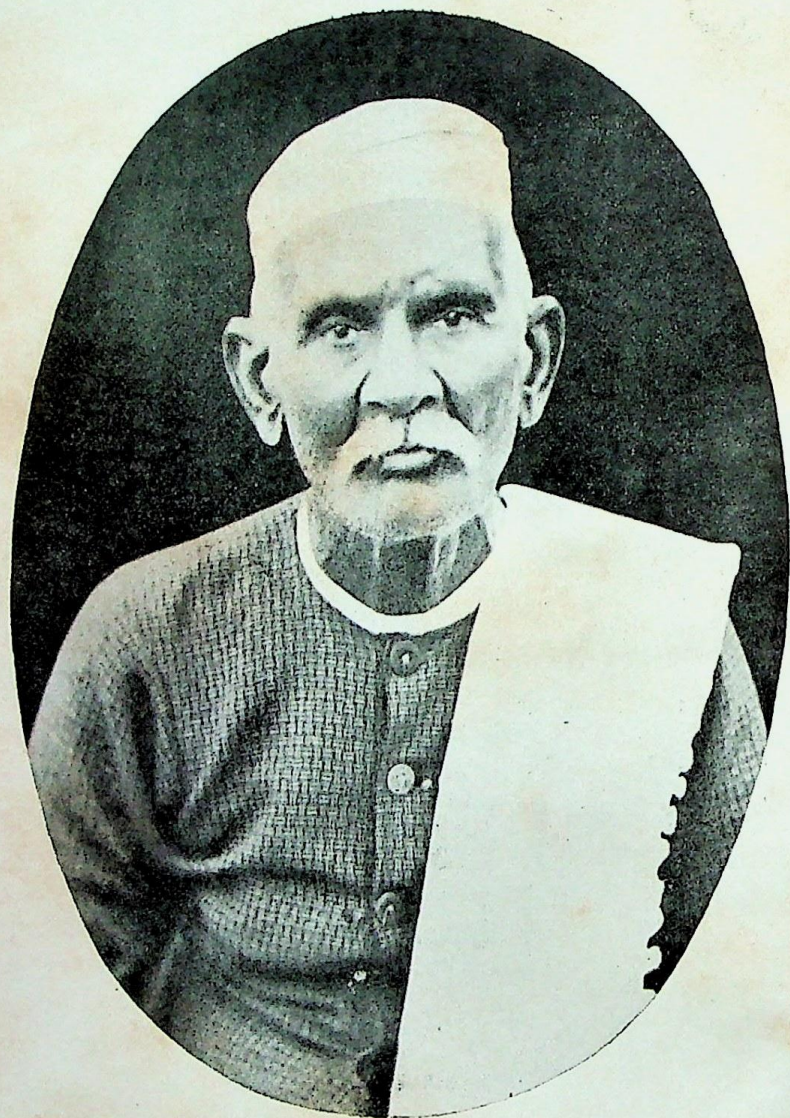
मृत्यु
सम्वत् १९९७

भूमिका

गीता नवनीत नामक यह अध्ययन मैं अपने पूज्य पिता-पितामह के चरणों में समर्पित करता हूँ। यों यह विराट् विश्व ही जिन दो तत्त्वों से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् परमेष्ठी प्रजापति और उनके भी जनक स्वयंभू प्रजापति, उन्हें भी शतपथ ब्राह्मण में पिता-पितामह कहा गया है, और यह विश्व जिसके केन्द्र में सूर्य है उन दोनों की परम्परा में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ है। उन आद्य पिता-पितामहरूपी तत्त्वों से भूत भौतिक जगत् के प्राणियों में अनन्त पिता-पुत्रों की शृंखला है। बिना माता-पिता के कोई प्राणी जन्म नहीं लेता। भगवान् अर्धनारीश्वर शिवकी सृष्टि का यही नियम है। मनुष्य और पशु क्या पुष्प वृक्ष और वनस्पतियों में भी यह नियम मुख्य है। इसे ही वेदों में भगवान् रुद्र का रोदसी ब्रह्मांड कहा जाता है। जहाँ तक रोदसी जगत् का विस्तार है वहाँ तक माता-पिता के युग्म से ही चैतन्य प्राणियों का जन्म सम्भव है।

इस नियम के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में जहाँ तक प्राण की सत्ता है वहाँ तक उसे शुक्र-सृष्टि कहा जाता है, यहाँ तक कि प्रत्येक वृक्ष, वनस्पति आदि भी बीज से ही जन्म लेते हैं। उदाहरण के लिए आम की गुठली एक बीज है। वह पृथ्वी की कुक्षि में गल कर अंकुर के रूप में बढ़ती हुई वृक्ष बन जाती है और फिर अपने जैसी गुठली को जन्म देती है। एक बीज से मातृगर्भ की रहस्यात्मक रचना का आश्रय लेकर दूसरे बीज का जन्म यही चेतन जगत् में प्रकृति का पूरा चक्र है। यह चक्र अनन्त काल से घूम रहा है और आगे भी इसका घूमना इसी प्रकार चालू रहेगा। इस चक्र के देश और काल में अनन्त अरे हैं। अनन्त की वैदिक संज्ञा सहस्र है इसलिए विश्व के इस चक्र को सहस्रार चक्र भी कहा जाता है। हममें से प्रत्येक प्राणी सहस्रार चक्र के किसी एक अरे से नियंत्रित होकर उसी के साथ घूम रहा है।

कोई भी व्यक्ति हो वह अपने माता-पिता या पिता-पितामह की वंश-परम्परा में ही जन्म लेता है। ऋग्वेद के अनुसार हममें से प्रत्येक व्यक्ति की संज्ञा यामायन कुमार है (ऋ० १०।१३५।१)। समस्त विश्व का जो पूर्व पुरुष है उसकी संज्ञा यम है, वही यम काल है। इसी काल से सबकी रचना होती है। प्रत्येक प्राणी उसी काल रूपी यम का कुमार है। हमारे इस प्राणात्मक जीवन को ही कुमार कहना चाहिए। 'नवो नवो भवति जायमानः', अर्थात् जन्म-जन्म में यह नया बन रहा है। इस नियम के अनुसार प्राणतत्त्व की वेगवती धारा प्रत्येक पीढ़ी में नई होती हुई आगे बढ़ रही है। सैकड़ों--सहस्रों पीढ़ियाँ पहले बीत चुकी हैं और भविष्य में उत्पन्न होंगी। इसे पुराण पुरुष या पूर्वजों की श्रृंखला कहा जाता है। हममें से कोई भी ऐसा नहीं है जो इस श्रृंखला की कड़ी न हो। प्रत्येक पिता सच्चे अर्थों में अपने पुराण पुरुषों से मिला हुआ है--

अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति (ऋ० १०।१३५।१)

अर्थात् इस शरीर रूपी घर का स्वामी जो पिता है वह आगे आने वाले सबका आवाहन करता है कि तुम्हें पूर्वजों की श्रृंखला के साथ मिले हुए रहना है। यह कल्पना या अर्थवाद नहीं यह तो जीव-विज्ञान का ध्रुव सत्य है। इसी अटल नियम के कारण प्रत्येक चेतन प्राणि-केन्द्र में मन, प्राण और पंचभूतों की जो सत्ता है उसका उद्गम उस एक पुराण पुरुष से हुआ है जिसमें ये तीनों तत्त्व थे। इसे यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो मन है उसके विकास में उस आदिम पुराण पुरुष के मन की प्रभावसत्ता चली आई है। और वह प्रत्येक पीढ़ी या शरीर में अपने विशेष पूर्व पुरुषों से ही हमें पितृ-दाय के रूप में मिलती है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने पिता-पितामह का बड़ा महत्त्व है। उनसे ही यह पंचभौतिक शरीर मिलता है। वे ही प्राण शक्ति को क्रियाशील स्वरूप प्रदान करते हैं। उनसे ही मन की विशेष शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति अपने सपिण्ड पूर्व पुरुषों के लिए श्राद्ध-कर्म करे। श्राद्ध-कर्म पितरों के प्रति व्यक्ति के दायित्व और

स्मरण-तर्पण का बहुत ही उत्कृष्ट प्रकार है। उसकी पूरी उपयोगिता अपने अपने हृदय की श्रद्धा-शक्ति पर निर्भर है। उस स्मरण का एक विशिष्ट अंग यह भी है कि संस्कृति की जो परम्परा हमें पूर्वजों से मिली है उस शृंखला की अपनी कड़ी को हम अपने द्वारा खंडित न होने दें और सम्भव हो तो और भी दृढ़ बनावें।

निजवार्ता-गृहवार्ता के रूप में मैं यहाँ अपने पिता और पितामह का कुछ स्मरण करना चाहता हूँ। मेरे पितामह का नाम ला० झब्बामल था। उन्हें गाँव के लोग साहजी कहा करते थे और खेड़ा गाँव में हमारा परिवार इसी नाम से प्रसिद्ध है। पितामह को मैं बहुत बचपन से, सम्भवतः अपनी आयु के तीन वर्ष से ही निकट से देखने और जानने लगा था। मेरे पिता बाहर नौकरी में प्रायः रहते थे। अतएव गाँव में अपनी माता के साथ और अपनी दादी और बाबा के पास रहने के कारण मैं बाबा का बहुत प्रिय बन गया था। और लगभग ३५ वर्षों तक मैंने उनके स्वरूप को बहुत निकट से देखा और उनके गुणों का अंतरंग अनुभव किया। मुझे इस बात से अनेक बार संतोष होता है कि मुझे अपने पितामह से चरित्र सम्बन्धी अनेक गुण सीखने का अवसर मिला। मेरे पितामह शरीर से अत्यंत स्वस्थ थे। वे देह में लम्बे, बलिष्ठ और दृढ़ थे। रंग जैसा उत्तर भारत में प्रायः सम्भ्रा त घरानों में होता है, गेहुँआ था जो उनके यौवन काल में विशेष रूप से दमकता था। उनकी आँखें विशेष चमकीली और स्नेहपूर्ण थीं। उनकी प्रशान्त मुद्रा सदा एक रस रहती थी। नसें तारकशी-सी खिंची हुई थीं। आलस्य का तो उनमें लेशमात्र भी न था। नियमित जीवन, आहार-विहार में संयम, अथक परिश्रम, प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में जागरण, ये उनके स्वाभाविक गुण थे। उनके इस स्वरूप को देख कर नेत्र कभी थकते न थे और मन अघाता न था। जिसे हम प्राचीन ग्रन्थों में कुलवृद्ध या स्थविर कहते हैं मेरे पितामह उसके बहुत ही असाधारण प्रतिनिधि थे। इस प्रकार की लग-भग २०० पीढ़ियाँ उनके समय से लेकर उस प्राचीन युग तक बीत चुकी थीं

जब पूर्व पूर्वज आर्य कुलवृद्धों ने हमारी जनपद और ग्राम भूमियों म भू-सन्निवेश के सूत्र डाले थे। मेरे पितामह की बुद्धि जैसी विलक्षण थी उससे अधिक की कल्पना करने लगूँ तो मुझे कठिनाई होगी। जिसे गीता और विदुरनीति में प्रज्ञा कहा है और जिसे हम सरलभाषा में सूझ-बूझ और समझदारी कहते हैं उसके वे सच्चे प्रतिनिधि थे। सुलझी हुई बुद्धि उनका स्वाभाविक गुण था। संसार के व्यवहारों को करते हुए ही उन्होंने यह गुण सीखा था। महाभारत में मैंने एक जगह पढ़ा था कि जो लोक व्यवहार को अपनी आँख से देखता है उसी का देखना पूरा सच्चा है (प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः)। आस-पास के पचासों गांवों में उनकी बुद्धि की पूछ थी। लोग उससे लाभ उठाने के लिए उन्हें आदर से बुलाते थे। यह कहना ठीक होगा कि आस-पास के गांवों में कोई सार्वजनिक काम उनकी सम्मति के बिना होता ही न था। गाँवों में उनके अनेक मित्र थे। वे उन्हें अपने कुटुम्ब के कामों में भी बराबर पूछते और बुलाते थे। गाँव के पंडित, गाँव के चौधरी, ठाकुर और मुकद्दम—ये सब बाबा के घनिष्ट मित्र थे और प्रायः प्रतिदिन उनकी दूकान के चबूतरे पर आकर बैठते थे जहाँ उनके लिए पुराने ढंग की खादी की छपी हुई जाजम बिछा दी जाती थी। उन गोष्ठियों का वातावरण हलका-फुलका होता था। अपनी कहना—दूसरे की सुनना, यही उनका हाल था और सबको सब की बातों में रुचि थी। गाँव का या निज का कोई समाचार ऐसा न था जिसकी चर्चा वहाँ खुले जी से न होती हो। मेरे लिए इन सबका लाभ यह हुआ कि मेरा मन गाँव के जीवन में पग गया। जिस जनपदीय जीवन के लिए मेरे मन में १९४० में अपने पितामह के चले जाने के बाद विचारों का महान् वेग उत्पन्न हुआ उसकी नींव, जब मैं आज सोच कर देखता हूँ, तो उसी समय रक्खी गई थी जब मेरे पितामह की ये सरल ग्राम गोष्ठियाँ अविकल रूप से होती थीं। इनमें ग्राम जीवन से सम्बन्धित सैंकड़ों सहस्रों चर्चाएँ मैंने सुनीं। अनेक ब्याह-शादियों के मंडान और भाँति-भाँति के टहलों के बन्धान मुझे निकट से जानने सुनने को मिले। जब मैं गाँव में होता तो

बाबा के साथ प्रायः ब्याहों में जाया ही करता था। कितने ही दमदार ठाकुरों के सरल जीवन को निकट से देखने का अवसर मिला। वे बात के धनी, हृदय के मरोड़दार पर बालक जैसे सरल थे। अपने-अपने स्वभाव की मरोड़ यह गाँव के जीवन की विशेषता है। लोगों के पास प्रायः पैसा नहीं होता पर आत्म-सम्मान की निजी धज से वे बड़प्पन का अनुभव करते हैं और उसी ठसक से जीवित रहते हैं। मुझे अब ज्ञात होता है कि इस मरोड़ या ठसक में ही सारे गाँव का व्यक्तित्व पीढ़ी-दरपीढ़ी सकुशल बना रहता है। जैसे गुरसल पक्षी भैंस के शरीर पर बैठ कर उसकी आँख या नाक से मैल निकालता है, मैल निकालता हुआ उसे ढाह लेता है वैसे ही सरल बातों से गाँव के ठाकुरों को भी वश में किया जा सकता है। पर कोई उनसे लगना चाहे तो उनका सोया हुआ राउतपना चौकन्ना हो उठता है। फिर चाहे वे टूट जायँ झुकने का नाम नहीं लेते। बाबा ने अपनी आयु के ८० वर्ष ऐसे ही अग्निकणों के बीच में बिताए पर उन्हें नम्रता की राख से ढक कर सदा शीतल बनाए रखा। गाँव के पंडित परिवारों के छोटे बालकों के लिए भी वे पालागन कह कर अभिवादन करते थे और ठाकुरों के छोटे बालकों को भी आदर से ही बुलाते थे। यह उनका स्वाभाविक शिष्टाचार था। इसके कारण गाँव के आपसी व्यवहारों में तनाव की मात्रा नहीं आने पाती थी। हम लोग जब अँग्रेजी पढ़ कर गाँव में पहुँचे तो वहाँ के निर्मल गंगाजल में अपने ठसकदार विचारों को नहीं मिला पाए। हमने जो मानसिक ग्रन्थियाँ अँग्रेजी शिक्षा से सीखी थीं वे गाँव के जीवन में नहीं थीं।

मैं कह चुका हूँ कि बाबा का स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। उनके भीतर प्राण की धारा अत्यंत वेगवती थी। वे सदा ही ब्राह्म मुहूर्त में उठते और लम्बी लाठी लेकर गाँव के बाहर चले जाते थे। शुद्ध वायु का सेवन और भ्रमण अनायास ही हो जाता था। वहीं से वे कई गाँवों में बँटी हुई अपनी जमींदारी के काम से चले जाते। यही उनकी कार्य के द्वारा व्यायाम की युक्ति थी। आलस्य तो उनमें था ही नहीं। काम को टालते न थे। कार्य-

क्षिप्रता उनका गुण था। उन्होंने अपने जीवन के आरम्भ में कस कर खेती की। हल चलाना, खेत में पानी देना, निराई करना और पक जाने पर कटाई करना इन सब कामों को वे जैसी फुरती से और श्रम से करते थे उसे देख कर गाँव के पुराने किसान भी अचरज में आ जाते थे। पीछे चल कर उन्होंने अन्न का व्यापार किया। उस समय वे १०० मन अन्न की पैर या राशि अपने हाथ से तौल कर उठते थे। बाद में वे प्रायः लेन-देन और बंज का काम भी करने लगे थे। वे हिसाब के बड़े पक्के थे। गाँव भर के खाते उनकी बही में खुले रहते थे। राजपूतों के घरों में आय-व्यय का लेखा-जोखा उन्हीं की बही में लिखा जाता था। सब हिसाब सदा उन्होंने अपने ही हाथ से लिखा। वे अपनी बही मुड़िया लिपि में ही लिखते थे। हैसियत के समय उनका हिसाब सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता था। अधिकारी उस पर यहाँ तक विश्वास करते थे कि उसे कचहरी के काम के लिए भी प्रामाणिक मानते थे। तहसील भर में उनका हिसाब सबसे अधिक टकसाली था। वे नित्य का हिसाब नित्य लिखने के अभ्यासी थे। घर के सब लोगों को वे हिसाब के विषय में शिक्षा दिया करते थे। उनका कहना था कि हिसाब पिता-पुत्र के बीच में भी आवश्यक है।

वे पाई-पाई का हिसाब रखते और बहुत मितव्ययी थे। किन्तु अपने लिए व्यय न करके परिवार के सब कुटुम्बी जनों के ऊपर व्यय करते रहते थे। अपने विषय में तो वे तपस्वी जैसे ही कड़े थे। शुद्ध कौड़ी की भावना उनके मन में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। अनीति का पैसा अपने पास नहीं आने देते थे। एक बार उनकी ज़मींदारी के छजारसी गाँव के नम्बरदार ने कुछ भूमि लगान उगाहने के लिए उन्हें सौंप दी और देकर बहुत वर्षों तक भूले रहे। पर बाबा अपनी बही में बराबर उसका लाभ उनके नाम से जमा करते रहे। जब २०००) जुड़ गए तो उन्हें लेकर वे नम्बरदार को सौंपने गए तो सारे गाँव को आश्चर्य हुआ पर उनकी अपनी वृत्ति यही थी।

धर्म में उनकी आस्था थी। स्नान के बाद नित्य विष्णुसहस्रनाम का

पाठ करते थे। जब गाँव में होते तो नित्य ही सायंकाल गाँव से बाहर के मन्दिर में शिव जी के दर्शन करने जाया करते थे। मैं भी जब कभी गाँव में होता तो बचपन से ही उनके साथ जाया करता था। सनातनधर्मी परम्परा को मानने के कारण वे सभी हिन्दू देवी-देवताओं के भक्त थे। उनकी निष्ठाएँ सब सनातन काल की थीं जैसी आज तक भारतीय गांवों में मिलती हैं। गंगा, गौ और गायत्री के भक्त थे। व्रत और उपवास का पालन करते थे। कर्मफल में उनकी निष्ठा थी और उसका आधार था अपने हाथ से हर एक कार्य स्वयं करना। वे कहा करते थे कि हाथ रत्न हैं ये कभी गन्दे नहीं होते। जिसे बाद में मैंने व्यास जी द्वारा कहा हुआ पाणिवाद समझा उसकी व्यावहारिक सीख मुझे जीवन भर के लिए उन्हीं से मिली। वे पुराणों के भक्त थे। दक्षिण के एक शास्त्री जी को अपने यहाँ रख कर महाभारत और पुराणों की कथा सुनी थी। अपने जीवन के २५ वर्षों तक उन्होंने स्वयं सुख-सागर पढ़ा था और गांव के अपने मित्रों को उसे बाँच कर सुनाया करते थे। उनकी तीसरे प्रहर की गोष्ठियों का यह एक अंग था। भागवत धर्म के सूक्ष्म संस्कार मुझे उन्हीं से प्राप्त हुए। भागवत धर्म के अनुयायी को जीवन में कैसा होना चाहिए यह भी उन्हें देख कर मैं सीख सका। स्त्री जाति के प्रति उनका व्यवहार अत्यंत शुद्ध था। उनके पाँच पुत्र और एक कन्या थी। अपने जीवन के अन्तिम ३५ वर्षों तक उन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

वे सच्चे कुल धुरंधर थे। उनके एक शरीर से पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रों की संख्या पचास से अधिक थी। अपने परिश्रम से उपार्जित अर्थ संचय भी था। मेरी दादी अत्यंत साध्वी, स्नेहमयी और तपस्विनी थीं। उनका हृदय अत्यंत उदार था। उनका अपरिग्रह व्रत नितान्त स्वाभाविक था। मेरे पितामह के प्रति उनकी भक्ति विलक्षण थी। उसके ध्यान से ही मन गद्‌गद् हो जाता है। पितामह अपने स्वभाव के जिस गुण की स्वयं श्लाघा किया करते थे वह उनकी अविचल पितृभक्ति थी। बाबा का जन्म आषाढ़वदी ८ संवत् १९१७ को हुआ था। उनके गाँव का नाम लाखन था। वहीं

उनके छोटे भाई बहुत दिन तक जीवित रहे। संवत् १९३२ में अगहन सुदी दोयज के दिन मेरे पितामह लाखन से लगभग ३ मील पर खेड़ा नामक दूसरे गाँव में गोद आ गए। उस समय उनकी आयु लगभग साढ़े पन्द्रह वर्ष की थी। इसी नए गाँव में उन्होंने छोटी दूकान और खेती करते हुए वणिज के द्वारा पाँच गाँवों में जमींदारी का विस्तार किया।

वह सच्चे पृथिवीपुत्र थे। सन् १९१२ से मेरे पिता जी लखनऊ में रहने लगे थे। जब कभी हम लोगों को देखने के लिए पितामह लखनऊ आते तो वे शहर के वातावरण में उखड़े हुए से रहते थे। उनका मन गाँव में ही रहता था। गाँव के जीवन में जो अनेक प्रकार के शिल्प होते हैं उन्हें वहाँ के सच्चे ग्रामवासी सहज ही सीख लेते हैं। इस प्रकार के अनेक शिल्प मेरे पितामह को आते थे। खेती के अतिरिक्त खंड सारी का काम भी उन्होंने किया था। महल जैसी एक बहुत बड़ी हवेली भी बनवाई थी। ईंटों की पथाई से लेकर पटाव और छाजन तक सब कामों की देखभाल उन्होंने स्वयं की थी। अपनी जन्मभूमि में बने हुए उस पक्के महल का मुझे आज भी स्मरण है जब ठेठ बालपन में कौड़ी ईंट के हिसाब से हम लोग ईंटें ढोया करते थे। उसके पलस्तर के लिए बेलगिरी, उड़द, गुड़ और चूने के साथ जो मसाला पीसा जाता था उसकी याद अब भी नहीं भूलती। सन् १९४० में उनका शरीर ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को पूरा हुआ तब वे ८० वर्ष के थे। वे अपने जीवन भर प्रायः स्वस्थ ही रहे। एक बार हृदय रोग से पीड़ित हुए तो हम सब के आग्रह करने पर भी कोई औषधि नहीं ली केवल ब्राह्मी के सेवन से अपने को रोग मुक्त किया। स्वयं गंगा की नहर तक जाकर प्रातः अपने हाथ से ब्राह्मी की पत्तियाँ लाया करते थे। उसी की बादाम मिली ठंडाई से उन्होंने पुनः स्वास्थ्य लाभ किया। ऐसे बहुपुत्रपौत्रीण, कुल-धुरन्धर ग्राम वृद्ध सच्चे पृथिवी पुत्र अपने पितामह से मैंने शरीर और मन के जो वरदान प्राप्त किये ईश्वर करें वे औरों को भी उसी प्रकार मिलें।

मेरे पितामह के पाँच पुत्र हुए। सबसे बड़े मेरे ताऊजी ला० नन्दराम, मेरे पिताजी श्री गोपीनाथ, और उनसे छोटे मेरे तीन चाचा

श्रीगोपीनाथजी

जन्म
सम्वत् १९४०
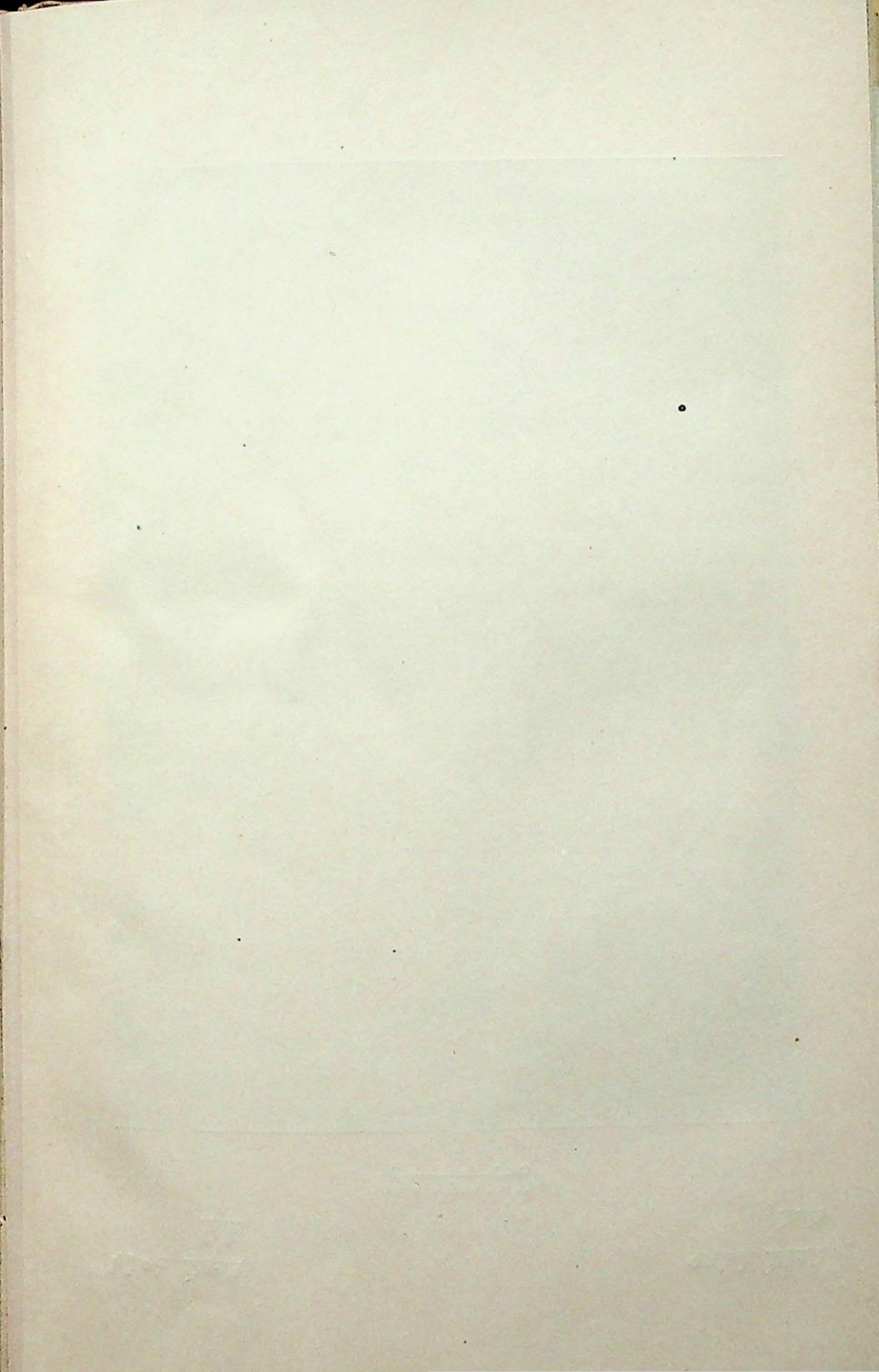
मृत्यु
सम्वत् २०१५

श्री जगन्नाथ, श्री रघुनाथ सहाय, और श्री प्रेमनाथजी।

पिताजी

मेरे पिता श्रीगोपीनाथजी का जन्म संवत् १९४० में हुआ। उन्होंने आरम्भिक उर्दू शिक्षा गाँव में ही पाई। हमारे गाँव से हापुड़ आठ मील दूर है। वहाँ उस समय एक अँग्रेजी हाईस्कूल था। संयोग से पिताजी शिक्षा के लिए वहाँ भेजे गए और उन्होंने हाईस्कूल पास कर लिया। उसके बाद वे आगे की शिक्षा के लिए रुड़की चले गए और वहाँ के इंजीनियरिंग कालेज से उन्होंने ओवरसियर परीक्षा उत्तीर्ण की। कई वर्षों तक नहर की सेवा करने के अनन्तर वे लखनऊ चुंगी में आ गए। वहाँ केवल एक वर्ष नौकरी की। फिर सन् १९१२ से स्वतंत्र व्यापार किया। इसी कारण मेरी भी शिक्षा लखनऊ में हो गई। सन् १९५० तक पिताजी ने अपना धंधा किया। और १९५८ में स्वर्गवासी हुए। एम० ए० की शिक्षा प्राप्त करने के बाद १९३१ में मैं मथुरा संग्रहालय में नौकरी पर चला गया, तब से केवल सवा वर्ष का समय छोड़ कर मैं प्रायः नौकरी पर ही रहा और पिताजी को उनके कार्य में कोई सहायता नहीं दे सका। उन्होंने मुझसे कभी कोई सेवा भी नहीं ली। केवल एक बार जब वे लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में आवश्यक शल्यक्रिया के लिए भरती किए गए तो दो मास तक निरंतर उनके पास रहने का सौभाग्य मुझे मिला। हम सबके भौतिक शरीर नश्वर हैं, पर गुणों के द्वारा जो मानस संयोग बनते हैं उनकी सुगंधि देर तक जीवन में बनी रहती है। इसी दृष्टि से आज मुझे अपने पिताश्री के गुणों का स्मरण आता है। जैसे पितामह से मुझे भागवत के संस्कार मिले वैसे ही पिताजी से गीता के। मेरे पिता गीता के अनन्य भक्त थे। उनका यही प्रयत्न रहता था कि कैसे गीता की शिक्षा को जीवन में उतारें। पूरी गीता में से उन्होंने अपने लिए जीवन-सूत्र के रूप में एक वाक्य चुन लिया था--

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

उन्होंने अग्रवाल कोठी के नाम से अपने जिस भवन का निर्माण सन् १९३३ में किया उसकी ललाट-लिपि के रूप में भारतीय संस्कृति का यह अनमोल वाक्य आज भी अंकित है। अपने पितामह के जिन गुणों का मैंने ऊपर उल्लेख किया है उनमें से कई मेरे पिता में भी थे। किन्तु पितामह हिसाब-किताब के प्रति जितने सजग थे पिता उतने ही उसकी ओर से उदासीन थे। उनको उसमें विशेष रस नहीं आया। उनका एक गुण जिसकी तुलना में अन्य कम व्यक्ति मेरे देखने में आए हैं वह असीम उदारता थी। पराए उपकार के लिए वे अपना सब कुछ भूल जाते थे। किसी के अभाव के निवारण के लिए वे कुछ भी दे सकते थे और उस समय अपने हानि-लाभ का कोई विचार उनके मन में नहीं आता था। उन्होंने कितने ही व्यक्तियों की आर्थिक सहायता करके उन्हें व्यापारिक साधन में लगाया। उनकी सदा यही भावना रही कि सहायता करके प्रत्युपकार की कोई भावना नहीं रखनी चाहिए। इसी से भलाई करने वाले को सच्चा सुख और परितोष मिलता है। वे अपने कुटुम्ब और अपनी जाति के लिए विशेष हितचिन्तक थे, किन्तु उसका ऐसा सात्त्विक रूप उनके मन में था कि किसी भी प्रकार की संकीर्णता से बच कर वे समाज और देश के व्यापक हितों में भी सदा रुचि लेते रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय उन्होंने यथाशक्ति आर्थिक सहायता दी। सन् १९२१ में तो एक चरखा पाठशाला भी चलाई और बहुत दिनों तक अपने यहाँ खादी बुनवाते रहे। मैंने भी उसी प्रेरणा से उस समय खादी का व्रत लिया।

संस्कृत भाषा के प्रति उनके मन में सहज अनुराग था। इसे पूर्वजन्म का शुभ संस्कार ही कहना चाहिए। सन् १९१६ के लगभग उनका परिचय प्रतापगढ़ के एक विद्वान् पंडित (मेरे वर्तमान संस्कृत गुरु) पं० जगन्नाथजी से हुआ। पिताजी ने मुझे उन्हें सौंप कर संस्कृत शिक्षा की पूरी सुविधा कर दी। मैं नहीं कह सकता कि यह मेरे किस पूर्वजन्म के कर्म का सुन्दर फल मुझे पिता और गुरु के अनुग्रह से प्राप्त हुआ। मेरे जीवन में जो कुछ भी अमृत का अंश है उन सबका श्रेय संस्कृत शिक्षा को है।

संस्कृत के अक्षरद्वार से मुझे प्राचीन भारतीय संस्कृति के दर्शन का कुछ सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कृत के अमृत सिञ्चन के प्रति मैं जितनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ कम है। पिताजी ने लखनऊ में शारदा संस्कृत विद्यालय के नाम से सन् १९२० में एक विद्यालय भी स्थापित किया। उसमें अनेक छात्रों ने संस्कृत विद्या की शिक्षा प्राप्त की। वह आज भी विद्यमान है और मेरे बालकाल के विद्यागुरु पं० जगन्नाथजी ही उसके अध्यक्ष हैं। उनके जैसे तपस्वी निःस्पृह ब्राह्मण आचार्यों के द्वारा ही संस्कृत वाङ्मय की परम्परा सुरक्षित रही है। उन्हीं के लिए भारतीय संस्कृति की यह भावना रही है—आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वं आचार्याय (अथर्ववेद) शिष्य के लिए आयु और आचार्य के लिए अमृत इसी वरदान से ज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है।

पिताजी ने अपने जीवन में कई धार्मिक ग्रन्थों की कथा सुनीं। एक बार महाभारत शान्तिपर्व की कथा पंडितजी से ही सुनी जो सब धार्मिक कार्यों में लगभग ५० वर्षों से हमारे परिवार के कुलगुरु रहे हैं। भागवत और गीता की कथा तो कई बार सुनी। फिर एक घटना ऐसी घटी कि उसका अर्थ उस समय मेरी समझ में नहीं आया। उन्होंने एक दूसरे पंडितजी को बुलाकर यह प्रबन्ध किया कि वे नित्य प्रति उन्हें वेद की कथा सुनाया करें। फलतः चारों वेदों का मूल पाठ और उनका हिन्दी अर्थ पिताजी ने आद्योपान्त सुना। उस समय मैंने उसे केवल औपचारिक समझा था, पर आज मैं समझता हूँ कि उन्हीं संस्कारों के कारण वेदार्थ के प्रति मुझे सविशेष आस्था प्राप्त हुई है। इस समय मुझे ऐसा लगता है कि वेद ही मेरा बल है और वेद ही मेरे नेत्र हैं—

वेदा मे परमं चक्षुः वेदा मे परमं बलम्।

मेरे पूज्य पिता अब इस लोक से वहाँ जा चुके हैं जहाँ हिरण्मय पुरुष के दर्शन के लिए हम सबको जाना है। किन्तु मुझे अनुभूति होती है कि वेदार्थ के विषय में वे अपना आशीर्वाद मेरे लिए छोड़ गए हैं। मेरे पितामह को भागवत और पुराण प्रिय थे, मेरे पिता को महाभारत,

गीता, उपनिषद् और वेद। मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि इन महान् ग्रन्थों के अर्थों का कुछ उद्‌घाटन करने के लिए मुझे कुछ वर्षों तक भगवान् सूर्य की ज्योति का दर्शन मिलता रहे।

गीता पर यह नई व्याख्या मैंने इसी वर्ष ग्रीष्म ऋतु में लिखी। वह भारत-सावित्री द्वितीय खण्ड के लिए विशेषतः लिखी गई जिसे सस्ता-साहित्य-मंडल महाभारत के ७ पर्वों की व्याख्या के अंतर्गत प्रकाशित कर रहा है। मेरी यह इच्छा हुई कि जिस प्रकार भारत-सावित्री प्रथम खंड लेखमाला के रूप में साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुई थी वैसे ही गीता की यह नवनीत व्याख्या प्रकाशित हो। तदनुसार वह लेखमाला ६ अक्तुबर से चालू हुई और शीघ्र समाप्त हो जाएगी। इस बार अपने पितृदेव का वार्षिक श्राद्ध करने के लिए जब मैं बैठने वाला ही था उस समय मेरे मन में संकल्प हुआ कि गीता-नवनीत की भूमिका के साथ गीता का मूलपाठ और नया हिन्दी अनुवाद जोड़ कर प्रकाशित किया जाय। तदनुसार यह संस्करण पिता-पितामह की श्राद्ध-दक्षिणा के रूप में प्रस्तुत है।

काशी विश्वविद्यालय

वासुदेवशरण

———

विषय-सूची

गीता नवनीत (गीता की नवीन व्याख्या) १–९२

गीता महिमा, पहिला अध्याय––अर्जुन का विषाद, गीता की पुष्पिका, ब्रह्मविद्या और कर्मयोग का समन्वय, उपनिषदों का सार–गीता। १–९

दूसरा अध्याय––सांख्ययोग अध्यात्म और व्यवहार का मेल ही प्रज्ञा है, आत्मवाद और देहवाद, आत्मा के विषय में प्राचीन मतवाद, मीमांसकों का कर्मवाद, वेद का ब्रह्मवाद, कर्मयोग शास्त्र, बुद्धियोग और कर्मयोग का मेल, अभिध्या का सिद्धान्त, प्रज्ञा का अर्थ। ९–२३

तीसरा अध्याय––कर्मयोग, अर्जुन का खरा प्रश्न, सांख्य और योग की दो निष्ठायें, कर्म के पक्ष में युक्तियाँ, यज्ञ और गीता में उसका नया उच्च अर्थ, आत्मज्ञान और कर्म, दोनों की साधना, कर्मों के दो भेद-पाप और पुण्य। २३–३२

चौथा अध्याय––ज्ञान कर्म संन्यास, कर्मयोग की पुरानी परम्परा, ईश्वर का अवतार, ३२–३४

पाँचवा अध्याय–कर्म संन्यास योग, कर्म योगी का लक्षण, ३४–३६

छठा अध्याय––ध्यान योग, योग की बुद्धिगम्य व्याख्या, योग में चूक जाने का डर, ३६–३९

सातवाँ अध्याय––ज्ञान विज्ञान योग, परा और अपरा प्रकृति का भेद और स्वरूप, ज्ञान और विज्ञान, ईश्वर तत्त्व की व्याख्या, ३९–४३

आठवाँ अध्याय–ब्रह्म क्या ? अध्यात्म क्या, कर्म क्या, अधिभूत क्या, अधिदैवत क्या, अधियज्ञ क्या, ओंकार रूप अक्षर ४४–४९

नवाँ अध्याय––राज्य विद्या, भगवान का दिव्य स्वभाव। ४९–५१

दसवाँ अध्याय––विभूति योग, लोक देवता, व्रत शब्द का पारिभाषिक अर्थ, मह नामक लोकोत्सव, लोक देवता। ५१–५५

ग्यारहवाँ अध्याय--विश्व रूप दर्शन, पुरुष और प्रकृति ५५–६०
की अनेक संज्ञाएँ, विश्व की संज्ञा विराट है, ईश्वर की
प्रचंड शक्ति, दिव्य दृष्टि क्या, विराट रूप।
बारहवाँ अध्याय—भक्ति योग, सगुण निर्गुणपूजा, लक्षण, ६१–६३
भक्ति साधना के कई मार्ग, भक्त के लक्षण, भागवत में
चरित्र के गुणों की सूची
तेरहवाँ अध्याय--क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार ६३–६४
की प्राचीनता, ब्रह्मसूत्रों में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विचार, गीता
में क्षेत्र का विचार, प्रकृति के अवयव और गुण, ज्ञान
और अज्ञान का विवेचन, क्षेत्रज्ञ पुरुष, विवेक का मार्ग।
चौदहवाँ अध्याय--तीन गुणों का विवेचन, तीन गुणों के ७३–७७
लक्षण, गुणातीत व्यक्ति के लक्षण,
पन्द्रहवाँ अध्याय--पुरुषोत्तम योग, जीव का स्वरूप, ७७–८३
वैश्वानर विद्या, हृद्देश में ईश्वर की सत्ता, क्षर और अक्षर।
सोलहवाँ अध्याय–दैवी और आसुरी सम्पद्, देवी लक्षण। ८३–८५
सत्रहवाँ अध्याय–तीन प्रकार की श्रद्धा, ॐ तत् की व्याख्या ८५–८६
अठारहवाँ अध्याय--मोक्ष संन्यास योग, कर्म के दो अंग, ८७–९२
ज्ञान के तीन भेद, कर्म के तीन भेद, कर्त्ता के तीन भेद,
तीन प्रकार की वृति, चातुवर्ण्य के स्वाभाविक कर्म।

श्रीमद्भगवद् गीता (मूल तथा भाषानुवाद) ९४–२६३

पहला अध्याय ९४-१०५, दूसरा अध्याय १०६-१२१, तीसरा
अध्याय १२२-१२९, चौथा अध्याय १२९-१३९, पाँचवा
अध्याय १४०-१४७, छठा अध्याय १४८-१५७, सातवाँ
अध्याय १५८-१६३, आठवाँ अध्याय १६४-१७१, नवाँ
अध्याय १७२-१८१, दसवाँ अध्याय १८२-१९१, ग्यारहवाँ
अध्याय १९२-२०७, बारहवाँ अध्याय २०८-२१३, तेरहवाँ
अध्याय २१४-२२१, चौदहवाँ अध्याय २२२-२२७, पन्द्रहवाँ
अध्याय २२८-२३५, सोलहवाँ अध्याय २३६-२४१, सत्रहवाँ
अध्याय २४२-२४७, अठारहवाँ अध्याय २४८-२६३।

गीता नवनीत

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता भीष्मपर्व का सुप्रसिद्ध अंश है। इसके १८ अध्याय हैं (पूना संस्करण अ० २३–४०)। आरंभ में और अंत में इसमें धृतराष्ट्र और संजय के संवाद रूप में कुछ श्लोक हैं, शेष कृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में हैं। भगवद्गीता जैसा ग्रंथ भारतीय साहित्य में दूसरा नहीं है। भारतीय मान्यता के अनुसार यह ईश्वर का मानव को उपदेश है। इसकी कई विशेषताएँ हैं जो और ग्रंथों में नहीं मिलतीं। गीता संवाद-ग्रंथ है। अतएव आदि से अंत तक इसकी मार्मिक रोचकता का प्रभाव मन पर पड़ता है। इसकी शैली शुष्क वर्णन से ऊपर है। यह मुख्यतः अध्यात्मविद्या का ग्रन्थ है। धम्मपद के समान नीति-विद्या तक यह सीमित नहीं। अध्यात्म से तात्पर्य मनुष्य के मन की उस समस्या से है, जो आत्मा के विषय में, उसके अमृत स्वरूप, आदि और अन्त के विषय में, शरीर और कर्म के विषय में, संसार और उसमें होनेवाले अच्छे-बुरे व्यवहारों के विषय में, आत्मा और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में, एवं मानवी मन की जो ज्ञान, कर्म और भक्ति रूपी तीन विशष प्रवृत्तियाँ हैं, उनके अनुसार किसी एक को विशेष रूप से स्वीकार करके सब प्रकार के जीवन व्यवहारों को सिद्ध करने और सबके समन्वय से जीवन को सफल, उपयोगी और आनन्दमय बनाने के विषय में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार के अत्यन्त उदात्त लक्ष्य और जिज्ञासा की पूर्त्ति, जिस एक शास्त्र से होती है वह भगवद्गीता है। इसकी शैली में कविता का रस है। इसके स्वर ऐसे प्रिय लगते हैं, जैसे किसी अत्यन्त हितू मित्र की वाणी अमृत बरसाती है। इसमें उपनिषदों के समान वक्ता के प्रत्यक्षसिद्ध या स्वानुभव में आए हुए ज्ञान का वातावरण प्राप्त होता है।

गीता की पर्याप्त प्रशंसा शब्दों में करना अशक्य सा ही है, क्योंकि विश्व के साहित्य में कर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का ऐसा रसपूर्ण ग्रंथ कोई दूसरा उपलब्ध नहीं है, जिससे गीता की तुलना की जा सके। धार्मिक मान्यता के अनुसार गीता साक्षात् भगवान् की वाणी है, पर अर्वाचीन मन को इस तथ्य को स्वीकार करने में झिझक हो सकती है। तो भी इस प्रकार की कल्पना तो स्वीकृतियोग्य मानी ही जा सकेगी कि यदि ईश्वर जैसी कोई अध्यात्मसत्ता सृष्टि में है और मानव अपने जीवन के लिए संशयरहित मार्ग की जिज्ञासा से युक्त होकर उस ईश्वरतत्त्व के ही जिसने विश्व और मानव का निर्माण किया है, सान्निध्य में पहुँच जाय तो उससे प्राप्त होनेवाले समाधान का जो स्वरूप सम्भव हो, वही 'गीता' है। मनुष्य को गीता जैसे मार्मिक ज्ञान की जीवन में बहुत बार आवश्यकता पड़ती है, जिसके प्रकाश में वह अपने संशयों को सुलझाकर अपने लिए कर्म करने या न करने का निश्चय कर सके। व्यक्ति के मनकी और कर्म की शक्ति जितनी अधिक होती है, उसी के अनुसार उसका संशय उसे भीतर तक झकझोरता है और उसके समाधान के लिए उतने ही गम्भीर ऊहापोह और समाधान करनेवाले व्यक्ति की ऊँचाई की आवश्यकता होती है। हमें अर्जुन और कृष्ण के रूप में ऐसे ही शिष्य और गुरु के दर्शन होते हैं। भगवान् कृष्ण की वाणी वेद-व्यास की पूर्णतम मनःसमाधि से निष्पन्न हुई है। अत एव इसमें संदेह नहीं कि गीता मानव के जीवन की मौलिक समस्याओं की व्याख्या करने-वाला ऐसा परिपूर्ण काव्य है, जिसकी तुलना अन्य किसी दर्शन, धर्म, अध्यात्म या नीति के ग्रन्थ से करना सम्भव नहीं। भारतवर्ष में अध्यात्म की परम्परा वहुत ऊँचे धरातल पर सहस्रों वर्षों तक फूली फली है। वेद और उपनिषद् जैसे महान् ग्रंथ उसीके फल हैं। किन्तु यहाँ के साहित्य में भी गीता के ७०० श्लोक अपनी उपमा नहीं रखते। उनमें जो वक्ता और श्रोता के हृदय की उन्मुक्त सरलता है, शब्दों की जैसी शक्ति है, शैली का जो प्रवाह है और सर्वोपरि विषय की मानव जीवन के साथ जैसी सन्निधि है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पहला अध्याय--अर्जुन का विषाद

'गीता' महाभारत का सर्वोत्तम अंश है। इस बड़े ग्रंथ में जिसे शत-साहस्री संहिता कहते हैं और भी कितने ही तेजस्वी प्रकरण हैं, किन्तु गीता जैसी साभिप्राय और सुविरचित रचना दूसरी नहीं। गीता को महाभारत-कार ने जिस संदर्भ में रक्खा है, इसका भी ग्रंथ की अर्थवत्ता के लिए बहुत महत्त्व है। गीता कुरु-पांडवों के युद्ध से पूर्व उस व्यक्ति से कही गई, जो दोनों पक्षों के क्षात्रबल का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है, युद्ध की दृष्टि से अर्जुन पाण्डव पक्ष का सर्वश्रेष्ठ पात्र है। पाण्डवों के पक्ष में धर्म का आग्रह था। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व अर्जुन का मन बहुत बड़े तनाव की स्थिति में आ गया था। मनुष्य की सोचने की, कर्म करने की, और चाहने की जितनी शक्ति है, उसकी भरपूर मात्रा जिस काम में उँड़ेल दी जाय, वह युद्ध का रूप है। बाह्य शस्त्रों का प्रयोग और संहार तो उसका गौण पक्ष है। हम शस्त्रों का प्रयोग न भी करें तो भी मन का वैरभाव विनाश करा डालता है। अपने ज्ञान, कर्म और हृदय की भावना से युक्त होकर विपरीत परिस्थितियों का सामना करने के अनेक प्रसंग जीवन में आया ही करते हैं। जो व्यक्ति जितना महान् है, उसके लिए ऐसे प्रसंग भी उतने ही गम्भीर हुआ करते हैं। इस बिन्दु पर पहुँचकर मानव अपने पूरे व्यक्तित्त्व को समेट कर कर्म की भट्टी में डाल देता है। पूर्व की घटनाओं ने अर्जुन को भी उसी मोड़ तक पहुँचा दिया था। उस बिन्दु से आगे उसके लिए दूसरा मार्ग न था, 'कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि' यही एकमात्र अर्जुन के जीवन की संगति थी। इसे ही युद्ध कहते हैं। यह युद्ध भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का हो सकता है। दोनों में ही आत्माहुति वीर की एकमात्र गति होती है, वही उसके चलने का मार्ग अवशिष्ट रहता है, पलायन नहीं। ऐसे कठिन मोर्चे पर पहुँच कर अर्जुन का दृढ़ मन टुकड़े-टुकड़े हो गया। जिस धर्म के भाव ने उसे युद्ध के लिए आगे बढ़ाया था, उसी ने अर्जुन के मन को संदेह से भर दिया। उसे ऐसा लगा मानों वह नीति-धर्म की हत्या के

के लिये वढ़ रहा हो। जिस राज्याधिकार के लिए युद्ध करना धर्म था, उस अधिकार की भावना को त्याग के भाव से क्षण भर में ही जीता जा सकता था और यों युद्ध का प्रपंच ही मिट जाता। कृष्ण ने अर्जुन की इस डाँवाडोल स्थिति को क्लैव्य या नपुंसकता कहा। अर्जुन के लिए यह शब्द इसी अर्थ में सार्थक है कि उसकी जितनी दुर्धर्ष कर्मशक्ति थी, उसे त्याग की इस झूठी भावना ने बिलकुल समाप्त कर डाला। जैसे किसी के शरीर की पुंस्त्वशक्ति नष्ट हो जाय, वैसे ही अर्जुन के मन का पौरुष बिखर गया। वस्तुत: अर्जुन ने गीता सुनने के वाद स्वयं स्वीकार किया कि वह एक प्रकार का मोह या उसके मन पर छाया हुआ अंधेरा था। जिस धर्मनिष्ठ कर्त्तव्य के लिए अपने सारे जीवन को दाँव पर लगा दिया था, उसी में उसकी आस्था जाती रही और उसका मन संदेह से भर गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार का संदेह केवल अर्जुन को ही हुआ और किसी को नहीं। और किसी का मन इस प्रकार के विवेचन के लिए तैयार ही नहीं था। अर्जुन के संदेह का कारण यह नहीं कि वह धर्म का पथ छोड़कर अधर्म की ओर जाना चाहता था, वल्कि अबतक जिसे वह धर्म समझे था उससे और ऊँचे धर्म को पकड़ने का भाव उसके मन में आ गया। गीता का पहला शब्द 'धर्मक्षेत्रे' इस दृष्टि से सहेतुक है। अर्जुन का संकट दो धर्मों के बीच में है, धर्म और अधर्म की टक्कर में नहीं। अधर्म के आग्रह को तो वह वहुत आसानी से छोड़ सकता था, किन्तु जिस नए उच्चतर धर्म का आकर्षण उसके मन में भर गया, उस विचिकित्सा या संदेह को स्वयं जीतने की उसमें शक्ति न थी। अर्जुन के इस भाव को मनोवैज्ञानिक शब्दों में 'परमकृपा' कहा गया है (कृपया परया विष्ट: १।२७)[१]। अर्जुन के भीतर जो कृपा या अनुकम्पा का भाव भर गया था, वह उसी के सदृश था, जैसा बुद्ध, महावीर, भर्तृहरि आदि राजकुमारों के मन में संसार के प्रति उत्पन्न हुआ था। अर्जुन ने

---

१. आगे के सब संकेत गीता के अनुसार हैं, भीष्मपर्व के अनुसार नहीं।

स्पष्ट कहा कि युद्ध की अपेक्षा भिक्षा का जीवन उत्तम है (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यं, २।५)। सच तो यह है कि अर्जुन ने युद्ध न करने के पक्ष में जो युक्तियाँ दीं, वे अत्यन्त प्रवल हैं। उसने कहा, "हे कृष्ण, मुझे राज्य नहीं चाहिए, सुख नहीं चाहिए, भोग का जीवन नहीं चाहिए, युद्ध में विजय नहीं चाहिए। यदि स्वजनों के वध से ये वस्तुएँ मिलनेवाली हों तो पृथ्वी क्या, त्रिलोकी का राज्य भी मुझे नहीं चाहिए। ये मुझे भले ही मारें, मैं अपने इन स्वजनों को कदापि नहीं मारूँगा। यदि यह कहा जाय कि ये अधर्म का पक्ष लेकर आए हैं, तो मेरा यह कहना है कि सचमुच इन्होंने हम भाइयों के साथ और द्रौपदी के साथ घोर आततताईपन के काम किए हैं, किन्तु यह जानते हुए भी मैं इनका वध नहीं करूँगा ये अंधे हैं। इन्हें अपना पाप दिखाई नहीं पड़ता। जिसके आँख है, वही सचाई को देखता है, अंधे को सत्य नहीं दिखाई पड़ता। इनके पास हृदय की आँख नहीं हैं, अतएव ये दयनीय हैं, पर हमारे पास तो विवेक की आँख है। हम भले बुरे की पहचान क्यों न करें? जिसकी आँखों पर लोभ का पट्टा चढ़ जाता है, उसके अंधे चित्त को सत्य नहीं सूझता, पर हम कुल के क्षय से होनेवाले इस बड़े पाप को कैसे न देखें? भारतीय संस्कृति में कुल ही जीवन का मूलाधार है। व्यक्ति या जाति या राष्ट्र के धर्मों की रक्षा और परम्परा यहाँ कुलधर्म के रूप में जीवित रही है। अर्जुन ने जिस संकट की आशंका प्रकट की वह युद्ध के परिणाम से होने-वाला सच्चा संकट था। एक प्रकार से राष्ट्र का जो सदाचारमय महान् धर्म है वह कुलों की मर्यादा विगड़ने से अस्त व्यस्त हो जाता है (उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः, १।४३)। अर्जुन ने सोचा—यह युद्ध महान् पाप है। मेरा हित इसी में है कि मैं युद्ध न करूँ, भले ही कौरव मुझे मार डालें। ऐसी विचारधारा में उसने अपना धनुष-बाण डाल दिया। उसका चित्त इस नए वैराग्य धर्म से संमूढ हो गया और उसके भीतर-बाहर शोक छा गया। उसने कृष्ण से कहा—मुझे अब नहीं जान पड़ता कि मेरा हित किसमें है? मेरा जो क्षात्र स्वभाव था वह जाता रहा। मैं आपका शिष्य हूँ और नम्रता से आपकी शरण में आता हूँ। आप गुरु बनकर मुझे

कल्याण मार्ग का उपदेश दीजिए। यही गीता के पहले अध्याय का सार है जिसे अर्जुनविषादयोग कहते हैं।

गीता की पुष्पिका

यहाँ हम पाठकों का ध्यान उस पुष्पिका की ओर दिलाना चाहते हैं जो गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

ओम् तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोध्यायः ॥१॥

इसमें अट्ठारह अध्यायों के नाम क्रम से बदल जाते हैं और शेष पुष्पिका वही रहती है। उसी की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इस पुष्पिका का पहला अंश ओम् तत्सत् है। यह सारी भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र है। इसका सीधा सच्चा अर्थ है—ईश्वर अर्थात् ब्रह्म या भगवत्तत्त्व की ध्रुव सत्ता। इसीलिए गीता के न्यास में ऋषि, छंद, देवता की व्याख्या करते हुए कहा है—'श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। ओम् तत्सत् की ही व्याख्या यह है, अर्थात् इस महान् शास्त्र का देवता या चिन्मय तत्त्व परमात्मा या ईश्वर है, वही गीता का प्राण, श्वास-प्रश्वास या जीवन है। ईश्वर के लिए ही ओम्, तत् और सत् ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ईश्वर है, वह तत् या अव्यक्त है एवं वह सत्य है, यही ईश्वर के विषय में भारतीय दर्शन की मान्यता है। यह सारा विश्व और जीवन भौतिक है। यदि ईश्वर में श्रद्धा हो तभी विश्व और जीवन सार्थक हैं। और कोई संस्कृति चाहे जिस ढंग से सोचती हो, भारतीय संस्कृति का मूलाधार सत् तत्त्व ही है। यह विश्व भूत भौतिक सत् रूप है। इसके भीतर देव की सत्ता अनुप्रविष्ट है जिसके कारण विश्व और जीवन स्थायी मूल्य प्राप्त करते हैं। गीता सत् तत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र है। यदि विश्व को असत् कहें तो जीवन की कोई समस्या ही नहीं है। एक ओर ब्रह्म है पर उसके लिए न कोई समस्या पहले थी, न आज है, न होगी। दूसरी ओर जड़ जगत् है। उसकी भी कोई समस्या नहीं। मृत्यु के साथ सब समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। जितनी

समस्याएँ हैं वे अर्जुन रूपी नर के लिए हैं। ईश्वर और विश्व के बीच की और दोनों को जोड़नेवाली कड़ी नर है। भारतीय दृष्टि से ये दो सूत्र स्मरण रखने योग्य हैं—

(१) ब्रह्म =ईश्वर =नारायण =कृष्ण =भगवान्

(२) जीव =मनुष्य =नर =अर्जुन =भगवान् का अंश

जीव की समस्याएँ दो प्रकार की हैं—एक भगवान् के साथ, दूसरी विश्व के साथ। नर और नारायण या मनुष्य और भगवान् के बीच की समस्याओं के समाधान का उपाय ज्ञान है और मनुष्य और विश्व की जितनी समस्याएँ हैं उनके समाधान का साधन कर्म है। दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं और दोनों के समाधान से ही मनुष्य का मन शान्ति या समन्वय प्राप्त करता है। यहाँ हम प्राचीन भारतीय शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि वह स्पष्ट और सुनिश्चित है और उसके पीछे एक महान् संस्कृति की अभिव्यंजना शक्ति है। हम चाहें तो ईश्वर के स्थान पर सत्य, न्याय, विश्वधर्म, आदि नए शब्दों का भी प्रयोग कर सकते हैं किन्तु मूल बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ब्रह्मविद्या और कर्मयोग का समन्वय

ज्ञान और कर्म इन दोनों के लिए ही गीता की पुष्पिका में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आए हैं—'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'। एक ओर ब्रह्मविद्या या अध्यात्म ज्ञान मानव के लिए अत्यंत आवश्यक है, दूसरी ओर योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग भी उतना ही आवश्यक है। गीता ज्ञानरूपी समाधान की दृष्टि से ब्रह्मविद्या है, वही कर्मरूपी समाधान की दृष्टि से योगशास्त्र है। गीता में योग की दो परिभाषाएँ हैं, एक ज्ञानयोग या बुद्धियोग है, दूसरा कर्मयोग या केवल 'योग' है। गीताकार ने दोनों की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। ज्ञानयोग को समत्वयोग कहा है (समत्वं योग उच्यते, २,४८)। कर्म की दृष्टि से कर्मों में कौशल या प्रवीण युक्ति को योग कहा है (योगः कर्मसु कौशलम्, २,५०)। ये दोनों भले ही अलग जान पड़ें पर गीता की दृष्टि में दोनों का समन्वय ही जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

उपनिषदों का सार गीता

इस प्रकार गीता के पुष्पिका-वाक्य के दो प्रधान अंशों की सार्थकता पर हमने विचार किया। अब तीसरा अंश 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' यह वाक्य है। ऊपर कहा गया है कि गीता नर के लिए नारायण की वाणी है। यदि स्वयं ईश्वर कुछ कहे या उपदेश करे, तो वह क्या भाषा होगी? इसका उत्तर है कि वह गीत या कविता ही हो सकती है। ईश्वर की भाषा यह विश्व है जिसके द्वारा और जिसके रूप में जो कुछ उसके पास कहने के लिए था वह सब कुछ उसने कह दिया है। अतएव वेदों में विश्व को 'देव-काव्य' कहा है, जिसकी भाषा और जिसके अर्थ कभी पुराने नहीं पड़ते। कविता वह है जो वाह्य स्थूल वस्तु या शब्द के भीतर छिपे हुए अर्थ को प्रकट करती है। इसीलिए कवि को क्रान्तदर्शी कहते हैं। कवि अर्थ को देखता है। अर्थ ही ब्रह्म है, शब्द भौतिक विश्व है। शब्द अर्थ को प्रकट करनेवाला काव्य है। शब्द प्रकट है, अर्थ रहस्य है। इसीलिए अर्थ को 'उपनिषद्' कहा है। यह गीता स्थूल दृष्टि से शब्दों में निबद्ध गीत या कविता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह महान् रहस्य या उपनिषद् है। जो गुह्य अर्थ है वही अध्यातम है। वह एक अनबूझ पहेली है। इसलिए उसे संप्रश्न भी कहते हैं। यह रहस्य ही ब्रह्मविद्या है। भारतीय संस्कृति ने आरंभ में ही इस ब्रह्मविद्या या रहस्य ज्ञान को जिस वाङ्मय द्वारा प्रकट किया उसी की संज्ञा वेद है। कालान्तर में वेद के ही ज्ञान को वेदारण्यक या उपनिषद् या वेदान्त भी कहने लगे। ये सब शब्द साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी' कालिदास के इस वाक्य में उपनिषदों की ही परम्परा को वेदान्त कहा है। ब्रह्मसूत्र तो साक्षात् उपनिषदों की अध्यातम विद्या की ही व्याख्या करने के लिए हैं। इसी दृष्टिकोण से पुष्पिका में गीता के ज्ञान को उपनिषद् कहा गया है। जो उपनिषदों का अर्थ है वही गीता में है। उपनिषद् गौएँ हैं गीता उनका अमृत दूध है। जैसा हम आगे देखेंगे वेद और उपनिषदों की शब्दावली या भावों का हवाला

देते हुए गीताकार ने अपने विचार प्रकट किए हैं। क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ऊर्ध्व, अधः, अश्वत्थ आदि ऐसे ही शब्द हैं। जो गीता को समझना चाहे उसे वेद विद्या तक पहुँचने के लिए अपने मन को तैयार रखना चाहिए। यदि यह ठीक है कि उपनिषदों की मलाई गीता में आई है तो जिस दूध की वह मलाई है उससे परिचित होने के लिए भी हमारे मन में उमंग होनी चाहिए। गीता में जितना स्थान कर्मशास्त्र को है उतना ही ब्रह्मविद्या को है। गीता के लिए ब्रह्म के बिना कर्म की कोई स्थिति नहीं। ब्रह्मशून्य लिये कर्म बंधन या केवल श्रम है। इस प्रकार गीता की पुष्पिका उसे समझने के तीन स्पष्ट सूत्र हमें देती है। पहला यह कि विश्व और मनुष्य दोनों का मूल एक सत् तत्त्व है। दूसरा यह कि ज्ञान और कर्म दोनों ही गीता के विषय हैं और दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं। एवं तीसरा यह कि गीता का यह उपदेश ईश्वरीय ज्ञान या दिव्य ज्ञान के अनंत स्रोत वेदों और उपनिषदों का निचोड़ है। वेद और उपनिषद् भारतीय अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या या सृष्टिविद्या के स्रोत हैं। इस क्षेत्र में प्राचीन भारत के मनीषियों ने जो सशक्त और उदात्त चिंतन किया था उसका सार गीता है। किसी अन्य शास्त्र के खण्डन-मण्डन में गीता को रुचि नहीं। उसका उद्देश्य भारतीय ज्ञान का मथा हुआ मक्खन प्रस्तुत करना है। गीता की शैली और भाव दोनों मधुर रस से ओत-प्रोत हैं, अतः वह मानव के हृदय की निकटतम भाषा है।

दूसरा अध्याय–सांख्ययोग

विषाद की चरम सीमा पर पहुँचे हुए अर्जुन के लिए ज्ञान और कर्म दोनों की ही शक्ति क्षीण हो चुकी थी। न वह इस योग्य रह गया था कि प्रवृत्ति मार्ग में लग सके और न निवृत्ति मार्ग को ही दृढ़ता से ग्रहण करने की उसमें पात्रता उत्पन्न हुई थी। किन्तु अर्जुन ने जो कहा उससे प्रकट होता है कि वह अपने लिए निवृत्ति का मार्ग चुनना श्रेयस्कर मान रहा था। उसके

तर्कों में सार नहीं था, क्योंकि उनकी उसके जीवन के साथ असंगति थी। अतएव सर्वप्रथम आवश्यक था कि उसके उन हेत्वाभासों का कुहासा या आवरण दूर किया जाय और निवृत्ति धर्म का जो सच्चा स्वरूप है उसकी व्याख्या की जाय। यही गीता के दूसरे अध्याय के विषय हैं।

सर्वप्रथम भगवान् ने प्रज्ञादर्शन के दृष्टिकोण से अर्जुन के विचारों की समीक्षा की। प्रज्ञादर्शन का आधार मनुष्य की बुद्धि या व्यवहार में काम आनेवाली समझदारी है। चाहे जैसी परिस्थिति हो प्रज्ञा ही मनुष्य का सहारा है। हम पहले कह चुके हैं कि प्राचीन युग में प्रज्ञादर्शन नाम का एक विशेष दृष्टिकोण था जिसकी विस्तृत व्याख्या उद्योग पर्व के अंतर्गत विदुर-नीति में आ चुकी है। प्रज्ञा, पञ्ञा, पण्डा, ये तीनों बुद्धि के पर्याय हैं। प्रज्ञावादी को लोक में पण्डित भी कहते थे। कृष्ण प्रज्ञावादी थे और अर्जुन का भी दृष्टिकोण यही था। इस शास्त्र का दृष्टिकोण यह है कि जीवन में मध्यमार्ग का आश्रय लिया जाय। इसके अनुसार अध्यात्म और जीवन ये दोनों विरोधी तत्त्व नहीं।

अध्यात्म और व्यवहार का मेल ही प्रज्ञा है

इनका समन्वय या मेल करना संभव है और वही इष्ट है। प्रज्ञा दर्शन के अनुसार सोचते हुए अर्जुन को ऐसा जान पड़ा कि युद्ध करने की अपेक्षा युद्ध न करना बढ़कर है। जिन्होंने अवतक उसके अधिकारों का अपहरण किया था उन्हें मारने की अपेक्षा भीख माँगकर खाना श्रेयस्कर है। इस प्रकार की थोथी विचारधारा को कृष्ण ने 'प्रज्ञावाद' कहा है और उसकी हँसी उड़ाई है (२।११)। सर्व प्रथम प्रज्ञावादी को यह ज्ञात होना चाहिए कि मृत्यु और जन्म दोनों अटल हैं। जन्म से हर्ष और मृत्यु से शोक करना प्रज्ञादर्शन का अंग नहीं (गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः २।११, पण्डिताः=प्रज्ञावादिनः)। प्रज्ञादर्शन की सबसे करारी टक्कर भाग्यवादी दर्शन से थी जिसे नियतिवाद या दैष्टिक (दिष्ट=भाग्य) मत भी कहते थे। वस्तुतः जन्म और मृत्यु दोनों टाले नहीं जा सकते। वे समय से होकर ही रहते हैं। इस बात को

प्रज्ञावादी और नियतिवादी दोनों मानते थे, किन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न थे। नियतिवादी सोचता था कि जब भाग्य के विधान से सबको जीना और मरना है तो मनुष्य उसका हेतु क्यों बने? वह अपने कर्म से इसमें निमित्त क्यों बने? अतएव शान्ति से रहना अच्छा। युद्ध आदि के बखेड़े में पड़ना ठीक नहीं। इसी को वे निर्वेद या वैराग्य कहते थे। शान्ति-पर्व १७१।२ के अनुसार नियतिवादी मत के पाँच सिद्धांत थे—सर्वसाम्य (सबको समान समझना, अर्थात् कर्म से उन्नति और ह्रास के सिद्धांत को न मानना), अनायास (हाथ-पैर हिलाकर श्रम न करना और अजगर की वृत्ति से जीवन बिताना), सत्यवाक्य, निर्वेद (वैराग्य लेकर कर्म के प्रति उदासीन रहना), अविवित्सा (जीवन की उपलब्धियों से अलग रहना)। भाग्यवादी 'मा कर्म कार्षीः' 'मा कर्म कार्षीः' रट कर शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मों का निराकरण करते थे और कहते थे कि इस प्रकार की निष्कर्म वृत्ति से ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। प्रज्ञावाद का लक्ष्य भी 'नैष्कर्म्य' और शान्ति ही था किन्तु वे दूसरे तर्क और दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे। जब व्यक्ति का जीना और मरना किसी ध्रुव नियम के अधीन है तो जो होकर रहेगा उसे टाला नहीं जा सकता अतएव जो जिसका कर्तव्य है उससे मुँह मोड़ना उचित नहीं। दूसरा तथ्य यह कि जन्म और मरण के अटल विधान में उस प्रकार के शोक और मोह का कोई स्थान नहीं जैसा भीष्म-द्रोण आदि की कल्पना से अर्जुन के मन में उत्पन्न हो गया था। ये ही युक्तियाँ कृष्ण ने सामने रक्खीं। अर्जुन ने जिस ढंग से सोचा था वह प्रज्ञादर्शन का आभास था, सत्य नहीं। भगवान् ने जीवन और मरण के संबंध में प्रज्ञादर्शन के वास्तविक दृष्टिकोण को और अधिक पल्लवित करते हुए कहा कि मैं और तुम और ये सब योद्धा नित्य हैं अत एव सदा से हैं और सदा रहेंगे। कभी ऐसा न था जब ये न रहे हों और कभी ऐसा नहीं होगा जब ये न रहें। इनकी जन्म, वृद्धि और ह्रास के नियम को इस प्रकार काल के अधीन समझो जैसे प्रत्येक के शरीर में कौमार्य, यौवन और जरा के बाद फिर नया शरीर आ जाता है (२।१२–१३)।

स्पष्टहै कि यह वाक्य आत्मा की नित्य सत्ता को मान कर कहा गया है जो प्रज्ञादर्शन का अंग था। नियतिवादी दर्शन में आत्मा की सत्ता पर उतना बल न था जितना भूतों के व्यवहार पर। जो व्यक्ति भूतों को अधिक महत्त्व देता है वह संयोग-वियोग, सुख-दुःख इनसे विचलित होता है। अनात्मवादी बुद्ध ने भी इन तथ्यों पर अधिक ध्यान दिया था। किन्तु जो आत्मवादी नित्य आत्मा में विश्वास रखते हैं उनके अनुसार सुख दो प्रकार का है—एक अमृत सुख और दूसरा मात्रा सुख। विषयों से संबंधित पाँच तन्मात्राओं के फेर में पड़कर जो सुख-दुःख होते हैं वे मात्रा सुख हैं, अनित्य हैं, आने और जानेवाले हैं। उन्हें सहना ही होगा। जो इनसे ऊपर उठता जाता है वही धीर है। दुःख और सुख को एक समान मान कर जो आत्मा के अमृत सुख का उपभोग करता है वही धीर या प्रज्ञाशाली है (सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते, २।१५)। यहाँ यह स्पष्ट है कि आत्मा का सुख अमृत सुख और इन्द्रियों का सुख मात्रा सुख है। पहला नित्य, दूसरा क्षणिक है।

आत्मवाद और देहवाद

जब भगवान् ने अमृत सुख की ओर ध्यान दिलाया और इन्द्रिय सुख की अपेक्षा उसे श्रेयस्कर कहा तो उसी प्रसंग में यह भी आवश्यक हुआ कि आत्मा का निराकरण करके भौतिक देह को प्रधान माननेवाले दृष्टिकोण का भी खण्डन किया जाय। यहाँ प्रकट रूप से वे खण्डन की भाषा का प्रयोग नहीं करते, किन्तु नित्य आत्मा की सत्ता और स्वरूप के विषय में जिस रोचनात्मक शैली का उन्होंने प्रयोग किया है वह अत्यंत आकर्षक है। वेद से लेकर उपनिषदों तक जो अध्यात्म विद्या की अप्रतिहत मान्यता थी अर्थात् ब्रह्म तत्त्व या सत् तत्त्व या आत्म तत्त्व में ध्रुव विश्वास, वही सार रूप में गीता के इन श्लोकों में (२।१६–३०) आ गया है। यहाँ उन प्राचीन तत्त्वदर्शियों का स्पष्ट उल्लेख आया है जो सदसद् वाद की युक्तियों से ब्रह्म की सत्ता के विषय में विचार करते थे। नासदीय सूक्त के सदसद् वाद दर्शन में उन्हीं की विचारधारा पाई जाती है। और भी ब्राह्मण तथा उपनिषदों में अनेक

स्थानों पर इस प्रकार के दार्शनिक चिंतन का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार दो तत्त्व हैं। एक ब्रह्म जिसे 'आभु' (ऋग्वेद १०।१२९।३) कहते थे—आ समन्तात् भवतीति आभु, अर्थात् जो सर्वतः परिपूर्ण, देश और काल में सर्वत्र व्यापनशील है वह सत्तत्त्व आभु हैं। इसकी अपेक्षा विश्व 'अभ्व' कहा जाता है—भूत्वा ॥ भवतीति अभ्वम्, अर्थात् जो है ऐसा जान पड़े किन्तु फिर कुछ नहीं रहता। इसे ही वैदिक भाषा में 'तुच्छ्य' भी कहा गया है। तुच्छ्य या क्षुद्र ने उस विराट् ब्रह्म की सत्ता को ढक रक्खा है (तुच्छ्येन आभु अपिहितम्, ऋग्वेद)। यही नित्य ब्रह्म और क्षणिक विश्व का संबंध है। गीता ने जिन सत् और असत् दो शब्दों का प्रयोग किया है उनका संकेत ऊपर कहे हुए ब्रह्म और जगत् के स्वरूप की ओर ही है। आभु कभी अभ्व नहीं हो सकता और अभ्व कभी आभु नहीं बन सकता। दोनों के स्वरूप और स्वभाव सर्वथा विभिन्न हैं। तत्त्वदर्शी ऐसा निश्चित जान चुके हैं—(नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः, २।१६)। उस नित्य सत् तत्त्व को ही अविनाशी और अव्यय भी कहते हैं। वैदिक दर्शन के अनुसार तीन प्रकार के पुरुष कहे गए हैं। एक अव्यय, दूसरा अक्षर, तीसरा क्षर। अव्यय को ही अज भी कहते हैं। अक्षर और क्षर की व्याख्या स्वयं गीता में आगे कही गई है (१५।१६)। अज या अव्यय के लिए गीता में पुरुषोत्तम और परमात्मा शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं (१५।१७–१८)। अध्यात्म भाषा की समृद्धि इन नामों में प्रकट हुई है। जो अज है वह नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, अविनाशी है, अप्रमेय है। इस प्रकार की परिभाषाएँ गीता में और उपनिषदों में समान रूप से मिलती हैं। इसे शरीर में रहने के कारण नित्य शरीरी (२।१८) या देही (२।३०) भी कहा गया है। जिसका तात्पर्य आत्मा से है। विराट् पुरुष का शरीर यह विश्व है और व्यष्टि आत्मा का शरीर यह पंच भौतिक देह है। ब्रह्म के और आत्मा के शरीर की यह कल्पना विशुद्ध वैदिक है। वेदों में ब्रह्म की एक संज्ञा पुरुष है, जैसा पुरुष सूक्त में प्रसिद्ध है। उसकी व्युत्पत्ति करते हुय ब्राह्मण ग्रंथों में लिखा

है कि वह ब्रह्म विश्व रूपी पुर में निवास करने के कारण 'पुरिशय' कहलाता है और इस गुण के कारण उसे परोक्ष शैली या सांकेतिक भाषा में पुरुष कहते हैं (प्राण एष स पुरि शेते तं पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते, गोपथ ब्रा० पूर्वभाग १।३९)। शरीर शब्द 'शृ विशरणे' धातु से बनता है, अर्थात् यह शरीर पंचभूतों का समुदाय है जो कुछ समय के लिए है, पर वे बिखर जाते हैं। इन पंचभूतों की विधृति अर्थात् इन्हें एकत्र धारण करनेवाला जो तत्त्व है वही प्राण है, वही देही, शरीरी और आत्मा है।

वैदिक दर्शन के इस मूल तत्त्व को गीताकार ने बहुत ही उदात्त और स्पष्ट शब्दों में कहा है—'यह विश्व (इदं सर्वम्) जिससे प्रकट हुआ है वह अविनाशी है, उस अव्यय का विनाश कभी संभव नहीं। देह का अंत होता है, किन्तु उसमें निवास करने वाले आत्मा का नहीं। आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है क्योंकि वह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। यह आत्म तत्त्व काल-परिच्छिन्न नहीं, सनातन है, यह स्थाणु और अचल है अर्थात् देश और काल के वशीभूत नहीं होता। इसकी सत्ता सर्वत्र है। यह अव्यक्त है। इसके कारण से व्यक्त भौतिक देह का अनुभव होता है। देह विकारी है, यह स्वयं विकार-रहित है'। वैदिक दर्शन के इस प्राचीन और सर्वसम्मत सिद्धांत को अर्जुन के सामने रखकर कृष्ण ने उसकी युक्तियों का उत्तर दिया—'यदि आत्मा की नित्यता को तुम मानते हो तो हे अर्जुन! यह स्पष्ट है कि न कोई किसी को मारता है न कोई मरता है। शस्त्र जिसको काटते हैं वह देह है, आत्मा पर आग, पानी और हवा का असर नहीं होता। यह जो भौतिक देहों का बनना-बिगड़ना तुम देखते हो, यह तो ऐसा ही है जैसे पुराना वस्त्र छोड़कर नया पहन लेना (२।१९-२३)। इस वैदिक मत के अतिरिक्त और भी कई मत अस्तित्व में आ चुके थे जैसे भूतवाद और स्वभाववाद। ये जन्म और मृत्यु को तो मानते थे किन्तु नित्य आत्मा को नहीं। यहाँ गीताकार ने उनके मत का उल्लेख करते हुए भी अपनी ही युक्ति का समर्थन किया है—'यदि तुम इसे नित्य (बार-बार) जन्म लेने और मरने वाला मानों तो भी शोक करने का कारण नहीं (२।२६)। यह

क्षणिकवादी दृष्टिकोण था जो जन्म एवं मृत्यु आदि सांसारिक घटनाओं को स्वभाव से प्रवर्तित मानता था, ब्रह्म आदि कारणों की प्रेरणा से नहीं।

आत्मा के विषय में प्राचीन मतवाद

भगवान् कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के अनुयायी थे। ऊपर उन्होंने स्वभाववादी दार्शनिकों की उक्तियों का खण्डन किया है। इन्हीं से मिलता-जुलता दर्शन यदृच्छावाद था। उसके अनुयायी मानते थे कि विश्व का न कोई रचनेवाला है, न इसका कोई आदि है, न अन्त है, अर्थात् यह जन्म और मृत्यु के किसी नियम से नियन्त्रित नहीं है। यह तो अपने आप हो पड़ा है, न इसके आदि का ठिकाना है, न अन्त का। जो बीच में देख रहे हो वही सब कुछ है। इस मत के उत्तर में कृष्ण का कहना है कि यदि इस मत को मान लिया जाय तो भी शोक करना ठीक नहीं। आत्मवादी लोग इसी युक्ति का अपने पक्ष में भी उपयोग करते थे। उनका कहना था कि आत्मा पहले भी अव्यक्त या अमूर्त था, और बाद में भी वह इसी स्थिति को प्राप्त हो जायगा। केवल बीच में ही शरीर के संयोग से वह मूर्त रूप में दिखाई पड़ता है। तो फिर ऐसी स्थिति में रोने धोने से क्या लाभ (२।२८)। वस्तुतः आत्मा के सच्चे स्वरूप के विषय में उस युग के तत्ववादियों के विभिन्न मतों का एक गड़बड़झाला-सा ही दीखता है। उसी का संकेत २।२९ श्लोक में है— कोई तो इस आत्मा के दर्शन को वड़ा अचरज मानते हैं, कोई दूसरे इसे बड़े अचरज भरे शब्दों में इसका वर्णन करते हैं, और कोई जब इसे सुनते हैं तो बहुत अचरज में भर जाते हैं कि क्या ऐसा होना भी संभव है, अर्थात् सुननेवालों को आत्मा के उन गुणों में विश्वास नहीं होता। वे नहीं मानते कि कोई ऐसी वस्तु भी संभव है जो आग, पानी और हवा से कटपिट न सके। इस आश्चर्य भरी शैली में आत्मा की चर्चा करनेवालों में ऐसा कोई नहीं है जो इसे ठीक तरह जानता हो। यहाँ स्वभाववाद, नियतिवाद, भूतवाद आदि दर्शनों की आत्मा-संबंधी मान्यता पर गीताकार ने उपहासात्मक शैली में दृढ़ प्रहार किया है। इसके अनन्तर पुनः वैदिक अध्यात्म-

वादी दृष्टि से कहा है कि शरीर में आया हुआ यह आत्मा (देही) नित्य है, कभी मर नहीं सकता। इसलिए कोई भी प्राणी शोक के योग्य नहीं है (२।३०)। उन पुराने दर्शनों में एक मत या दिट्ठि कुल या जाति पर आश्रित थी। उसे योनिवाद कहते थे। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में उसका उल्लेख आया है—'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' (१।२)। शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म पर्व में (अ० १७ पूना संस्करण) योनिवाद दर्शन के मतों का विस्तृत वर्णन है। ये लोग मानते थे कि मनुष्य के कर्म या जीवन का निर्णायक न भाग्य है, न पुरुषार्थ, बल्कि जिस कुल, जाति या योनि में उसका जन्म हुवा है वही सब कुछ है। योनि से ही स्वधर्म या कर्तव्य का निर्णय हो जाता है। श्रृगाल को क्या करना है और मनुष्य को क्या करना है, यह तो उनकी योनि से ही निश्चित हो गया। उसे न भाग्य बदल सकता है, न कर्म। इस मत के मानने वाले विशेषतः कुलीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य राजा आदि थे। इनका कहना था कि अपने अपने चोले में सब सुखी रहते हैं, कोई इसे छोड़ना नहीं चाहता। उसी से अधिकारों का निर्णय होता है। इस दृष्टि से कृष्ण ने कहा—अर्जुन? तुम क्षत्रिय की योनि में जन्मे हो इसी से तुम्हारे स्वधर्म का निर्णय हो गया। उस धर्म का पालन करो, उससे घबड़ाओ मत। क्षत्रिय को धर्मप्राप्त युद्ध से बढ़कर और क्या चाहिए (२।३१)? यदृच्छा या भाग्य से तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल गया है, ऐसा युद्ध तो किसी भाग्यशाली क्षत्रिय को ही मिलता है (२।३२)। कहीं इस धर्मयुद्ध के अवसर से चूक गये तो स्वधर्म भी जायगा और पाप भी लगेगा। जन्म जन्म के लिए लोग तुम्हें धिक्कारेंगे। युद्ध में मृत्यु से भागोगे तो निन्दारूपी मृत्यु तुम्हें न छोड़ेगी। जो आवरू वाला है उसके लिए निन्दा मृत्यु से भी भारी है। महायोद्धा तो यही समझेंगे कि तुम भगोड़े हो। अबतक जो तुम्हें मानते रहे वे ही हँसेंगे। तुम्हारे बैरी तुम्हारे लिए क्या-क्या कुवाच्य न कहेंगे? वे कहेंगे—'अरे वह यही अर्जुन है जो बृहन्नला बना था। यह युद्ध क्या जाने? इससे बढ़कर तुम्हें दुःख क्या होगा? तुम्हारे जैसे शूर क्षत्रिय दो ही बात मानते हैं, मर

गए तो स्वर्ग का राज्य भोगेंगे और जीत गए तो पृथ्वी का। इसलिए उठो और लड़ने के लिए कमर कसो (२।३३–३७)।

इसके बाद कृष्ण ने अगले श्लोक में नियतिवादियों के पाँच सिद्धान्तों में से समता सिद्धान्त का उपयोग करते हुये युद्ध के पक्ष में एक युक्ति दी— सुख-दुःख, हानि लाभ, जीत-हार इनको एकसा समझकर युद्ध करो। ऊपर के दृष्टिकोणों को यहाँ सांख्यों की बुद्धि या दृष्टि कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये सब दृष्टियाँ प्रकृतिवादी दार्शनिकों की थीं। पहले पुरुषवाद या आत्मवाद की दृष्टि से विचार किया, फिर केवल शरीर की दृष्टि से। अब इन दोनों के समन्वय की दृष्टि से विचार करते हैं। वही कर्म योग की दृष्टि है। कर्मयोगी संसार के कर्म और आत्मा के धर्म दोनों को साथ लेकर चलता है। उसके लिए ज्ञान और व्यवहार में विरोध नहीं होता। वह आत्मा के ज्ञान को प्रत्यक्ष व्यवहार में उँड़ेलकर जीवन के भीतरी और बाहरी दोनों रूपों को प्रकाश से भर देता है। कर्मयोग की बड़ाई यह है कि इस मार्ग में कर्म के पूरा हो जाने या अधूरा रह जाने का झंझट नहीं है। जितना कर लिया जाय वह अपने में पूर्ण है, क्योंकि कर्मयोगी की दृष्टि कर्म पर रहती है, कर्म फल पर नहीं। अत एव कर्मयोग में सदा ईश्वर की सत्ता के बल का अनुभव होता है, अभाव विघ्न और निराशा का अनुभव नहीं होता। कर्मयोगी के सामने केवल एक दृष्टि रहती है, वह सुनिश्चित कर्म की है। जो कर्म फल को देखते हैं, उनकी बुद्धियाँ बँट जाती हैं।

मीमांसकों का कर्मवाद

यहाँ गीताकार ने उन कामनाओं का वर्णन किया है जिनके कारण लोगों में भाँति-भाँति के कर्म फलों के लिए कर्म करने की इच्छा होती है। यह दृष्टिकोण विशेषतः उस युग के यज्ञवादी मीमांसकों का था। पुत्रकाम्या इष्टि से सन्तान होगी, मित्रविन्दा इष्टि से मित्र सुख मिलेगा, कारीरी इष्टि से अच्छी वृष्टि होगी। इस प्रकार के छोटे-बड़े सैकड़ों यज्ञ और उनके उतने ही फलों के भुलावे का एक जाल ही लोक में फैल गया था। बड़े यज्ञों की कौन कहे छुटभइये देवताओं की पूजा की भी भरमार

हो गई थी। इसे ही यहाँ वेदवाद अर्थात् यज्ञवाद की फूली हुई वाणी कहा है। भोग और ऐश्वर्य, धन और पद यही इस दृष्टि के पल्ले रह गया था। स्वर्ग और नरक के बहुत से पचड़े उठ खड़े हुए थे। ऐसा कहनेवाले मानने लगे थे कि इस थोथे कर्म काण्ड के सिवा और कुछ है ही नहीं (नान्य दस्तीतिवादिनः २।४२)। जहाँ इस तरह का मत चल जाय वहाँ मन की शान्ति और एकाग्रता नहीं हो सकती। कृष्ण का कटाक्ष इस तरह कर्म काण्ड से भरे हुए (क्रिया विशेष बहुल) वेदवाद पर है।

वेद का ब्रह्मवाद

वस्तुतः वेद का सिद्धान्त तो ब्रह्मवाद है। 'ब्रह्म तद्वनम् ब्रह्म उ वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ॥ ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' इत्यादि अनेक स्थानों में प्रतिपादित महान् ब्रह्म सिद्धान्त ही वेदों का मूल अभिप्राय था। उसकी तो यहाँ भरपूर प्रशंसा ही की गई है। ब्रह्म-विज्ञानी व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि उसके चारों ओर ब्रह्मानन्द का समुद्र उमड़ रहा है। जब इस प्रकार का विज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है तब मनुष्य को स्थूल शब्दों में रुचि नहीं रहती, उसका मन अनंत अर्थ के साथ जुड़ जाता है। अर्थ अमृत है, शब्द मर्त्य है। इसलिए ब्रह्म विज्ञान प्राप्त कर लेने पर मन शब्दों की सीमा से बहुत ऊपर उठ जाता है। जिस समय चारों ओर से जल की बहिया आयी हो उस समय कुवें के सीमित जल की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसी ही स्थिति उपनिषदों और वेदों में प्रतिपादित परम पुरुष के साक्षात्कार के समय हो जाती है। यही गीताकार का आशय है। सब वेदों से जानने योग्य जो ब्रह्म तत्व है वह प्रकृति से पृथक् अध्यात्म पुरुष है। सत्त्व रज तम इन तीन गुणों तक प्रकृति की सीमा है और इन्हीं गुणों तक वैदिक कर्म-काण्ड का फल है। ब्रह्म-विज्ञान या अध्यात्म ज्ञान उससे ऊपर है। इसकी प्रशंसा तो गीता में अनेक प्रकार से की गई है। वस्तुतः गीता को ब्रह्मविद्या कहा गया है और तत्त्वतः वेदविद्या ब्रह्मविद्या ही है। यज्ञीय कर्मकाण्ड तक जो वेदों को इतिश्री कहते हैं वे वेदार्थ को नहीं जानते। उपनिषदों में वेदों का यही अर्थ साक्षात् भरा हुआ है। उपनिषद् रूपी गायों का अमृतरूपी

दूध ही गीता का ज्ञान है। केवल ज्ञान अमृत है और केवल कर्म पानी है। पानी और अमृत के मिलने से दूध बनता है। वही मानव का पोषक आहार बन सकता है। ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय ही गीता का कर्मयोग है। जब भगवान् उस कर्मयोग की व्याख्या का आरंभ करने लगे तो यह आवश्यक हुआ कि कर्मकाण्ड की उलझनों से भरे हुए कर्मवाद का खण्डन किया जाय और कर्म के विषय में प्रज्ञावादी मानव की जो स्वच्छ दृष्टि होनी चाहिए उसकी व्याख्या की जाय। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समा:' इस मन्त्र का यह उद्देश्य नहीं कि कर्मकाण्ड की जटिलता में पड़े हुए जीवन के सौ वर्ष बिताओ, बल्कि इसका आशय यह था कि आत्मा के दिव्य गुणों की और शरीर के गुणों की जितनी संभावनाएँ हैं उन्हें कर्मों के द्वारा प्राप्त करते हुए दीर्घ आयुष्य का भोग करे।

कर्मयोग शास्त्र

इसके अनन्तर भगवान् उस कर्मयोग शास्त्र की व्याख्या करने लगते हैं जिसे प्रज्ञावादी दार्शनिकों ने वेद और जीवन दोनों के तत्वों का निचोड़ लेकर सर्वथा नई दृष्टि से प्रतिपादित किया था।

कर्मयोग शास्त्र का निचोड़ गीता के एक श्लोक में आ गया है—(कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि २।४७)। कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार है कर्मफल पर नहीं। अत एव तुम कर्म के हेतु बन सकते हो, कर्मफल के हेतु नहीं बन सकते। तुम्हारी शक्ति की सीमा जिस कर्म तक है उसे कभी छोड़ कर बैठ रहने का भाव मन में मत लावो। ऐसा करने से कर्म और कर्मफल दोनों तुम्हारे हाथ से निकल जायेंगे।

कृष्ण के ये वाक्य कर्मयोग-शास्त्र के मूल सूत्र हैं। इन्हीं की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। और कितनी ही अन्य युक्तियों से इसी तत्व का समर्थन किया गया है। कर्मयोग का मार्ग शरीर यन्त्र से केवल बाहरी कर्म करना नहीं है। सच्चे कर्मयोग के लिए मन और बुद्धि का संस्कार आवश्यक है। इसके लिए कृष्ण ने योग की दो परिभाषाएं बताई— "समत्वं योग उच्यते" (२।४८।) "योगः कर्मसु-कौशलम्" (२।५०)। सच

कहा जाय तो कर्म की अपेक्षा बुद्धि का सुधार अधिक महत्त्वपूर्ण है। कर्म में तो सभी लिपटे हुए हैं, किन्तु कर्मयोगवाली बद्धि के प्राप्त करने से ही कर्म का बंधन नहीं लगता। सिद्धि और असिद्धि, दोनों में एक समान रहने की जो मानसिक साधना है उसी का नाम समत्वयोग है। यह बुद्धियोग या अनासक्तियोग वहुत ऊँची स्थिति है। इसकी तुलना में केवल कर्म बहुत नीचे की वस्तु है। अनासक्त भाव से जो कर्म करना सीख लेता है वह इस पचड़े में नहीं पड़ता कि क्या करें, क्या न करें। उसके लिए तो प्राप्त कर्तव्य को अच्छी तरह करना यही कर्मयोग का स्वरूप है। बुद्धि में समत्व भाव और कर्म करने की कुशल युक्ति ये दोनों कर्मयोग शास्त्र की दो आँखें हैं। जो चतुर हैं वे कर्मफल से अपना मन हटाये रहते हैं। और इसी कारण कर्म करते हुवे भी कर्मों में लिप्त न होकर मोक्ष के अधिकारी वनते हैं। ज्ञात होता है कि उस युग के शास्त्रों में सांख्यों के ज्ञानमार्ग का और कर्म-संन्यास का एवं मीमांसकों तथा इतर शास्त्रों के कर्ममार्ग का वहुत ऊहा-पोह किया गया था। उसे यहाँ मोह का दलदल कहा है। उन श्रुतियों के दोहरे तर्कों से यह निर्णय करना कठिन था कि कौन-सा मार्ग ठीक है। कृष्ण के ही वाक्यों से ऐसा जान पड़ता है कि सांख्य के निवृत्तिमार्ग की शान्त और समत्व स्थिति और कर्मवादियों के पुरुषार्थ इन दोनों को लेकर वे एक नया सिद्धान्त सिखाना चाहते हैं।

बुद्धियोग और कर्मयोग का मेल

अर्जुन को यह सन्देह हुआ कि वुद्धियोग और कर्मयोग इन दोनों का मेल कैसे संभव है। जो समत्व भाव में मन को डालेगा वह कर्म कैसे कर सकता है? यही उसका अगला प्रश्न है—समाधि या मन की एकाग्रता का जो अनुसरण करता है, जो सिद्धि-असिद्धि में समत्व रखता है, ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की कर्म क्षेत्र में उतरने पर क्या दशा होगी। उसके संभाषण और रहन-सहन की कैसे पहचान की जायगी (२।५४)?

इस प्रश्न के उत्तर में कृष्ण ने स्थिर बुद्धि की व्याख्या प्राय: निवृत्ति-मार्गी सांख्यवादियों के शब्दों में ही की है। जो नैतिक और विराग साधना

उस मार्ग में आवश्यक है। उससे कम मन की समाधि और संस्कार से कर्मयोगी का काम नहीं चल सकता। उसे भी दुःख और सुख के प्रभाव से अपने मन को बचाना होगा। उसे भी राग द्वेष, भय और क्रोध छोड़ना होगा। उसे भी शुभ और अशुभ दोनों के आ जाने पर मन को एकसा रखना होगा। जैसे ज्ञानी विषयों से इन्द्रियों को सिकोड़कर अपने वश में रखता है, ऐसा ही कर्मयोगियों के लिए भी आवश्यक है। यदि मनुष्य हठात् उपवास आदि करे तो कुछ समय के लिए विषय छूट सकते हैं, पर मन से विषयों की लालसा तभी जायगी जब अन्तःकरण में आत्मा का प्रकाश भर जाय।

अभिध्या का सिद्धान्त

ज्ञात होता है कि प्रज्ञावादी दर्शन में सांख्य के समत्व योग का तो सर्वांश में ग्रहण किया ही गया था, उसके साथ कर्मयोगियों ने इन्द्रिय और विषयों को वश में रखने के सिद्धान्त की भी अपने ढंग से व्याख्या की, अर्थात् विषयों का युक्त आहार विहार से भोग बुरा नहीं, वह तो आवश्यक है, किन्तु विषयों का ध्यान या मन से उनकी लालसा करते रहना बुरा है। विषयों में डूबा हुवा वैसा मन इन्द्रियों को भी मर्यादा से बाहर खींच ले जाता है, जैसे हवा का झोंका डोंगी को पानी में डुबो देता है। 'सनत्सुजातीय पर्व' में इसे अभिध्या का सिद्धान्त कहा गया है।

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते" आदि श्लोकों में उसी का वर्णन है। विषयों के रस पूर्वक ध्यान से उनमें आसक्ति हो जाती है। उससे मोह या विवेक की हानि होती है। उससे अपने स्वरूप और अपने कर्तव्य दोनों का ध्यान नहीं रह जाता। यही स्मृति का लोप है। उससे सब प्रकार की उच्च आध्यात्मिक बुद्धि अन्धकार में ढक जाती है और उसीसे व्यक्ति सर्वनाश की दशा में पहुँच जाता है। इस कठोर स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि इन्द्रियों को आत्मा के वश में रखकर विषयों का सेवन किया जाय।

कृष्ण के मत में विषयों को छोड़ना इष्ट नहीं। उनके राग से ऊपर उठ जाना बुद्धि के प्रसाद का कारण है। 'आत्मवश्यता' यही कर्मयोगियों

का सूत्र था। सुख और शान्ति सभी दर्शनवाले चाहते हैं किन्तु इन्द्रिय और विषय इनके पारस्परिक संबंध को मर्यादित किये बिना न शान्ति मिल सकती है न सुख। अतएव जो भी दर्शन पहले हुए हों या आगे होनेवाले हों उन सबका एक ही सार समझ में आता है, अर्थात् विषयों के साथ इन्द्रिय संयम की स्थिति। स्थिर प्रज्ञा की कसौटी इन्द्रियों को वश में रखना ही है। यह परिभाषा सब देश और सब काल में मानवमात्र के लिए सत्य है। इन्द्रियसंयम को मानवीय प्रज्ञा का घनीभूत सूत्र ही कहना चाहिए।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२।६८)

प्रज्ञा का अर्थ

सांख्य दर्शन में बुद्धि शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रचलित था। उसी के पर्याय प्रज्ञा शब्द का प्रज्ञा-दर्शन में नवीन व्यापक अर्थ मान्य हुआ। बुद्धि शब्द को भी अर्थों का नया चोला पहनाया गया। विदुरनीति की व्याख्या में कहा जा चुका है कि जीवन के प्रति संतुलित समझदारी का दृष्टिकोण ही प्रज्ञा है। विदुर प्रज्ञावादी थे। कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के महान् उपदेष्टा हैं। उनका सारा जीवन ही प्रज्ञावादी आचार का उदाहरण है। गीता उस दृष्टिकोण का महान् शास्त्र है। प्रज्ञा को ही पाली में पञ्ञाया और देश्य प्राकृत में 'पण्णा' या पण्डा कहते थे। प्रज्ञावादी को ही लोक में पण्डित यह नया शब्द चल गया। महाभारत के प्रज्ञावादी विदुर को जातकों में विदुर पण्डित कहा गया है। प्रतिष्ठितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितधीः, स्थित-प्रज्ञ ये सब शब्द एक ही अर्थ की ओर संकेत करते हैं। गीताकार ने इन सब पर अपनी स्वीकृति की छाप लगाते हुए इन्हें वैदिक ब्रह्मभाव या ब्राह्मी स्थिति के साथ जोड़ दिया है। वसिष्ठ आदि ऋषि और मनु आदि राजर्षियों की परम्परा के साथ गीताकार ने प्रज्ञावादी कर्मयोग की परंपरा को जोड़ते हुए विलक्षण समन्वय को प्रदर्शित किया है।

प्राचीन वैदिक युग में एक दर्शन अहोरात्रवाद था जिसमें ज्योति और तम या दिन और रात के प्रतीक से सृष्टि की व्याख्या की जाती थी।

इसे ही कालवाद भी कहते थे। उसी शब्दावली का आश्रय लेते हुए यहाँ संयमी और असंयमी की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार अध्यात्म तत्त्व दिन है और भौतिक जगत् के विषय-भोग रात्रि हैं। प्रायः प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार अध्यात्म जगत् में सोते रहते हैं, वह उनकी रात है, पर संयमी वहाँ जागता है। विषयों के जगत् में असंयमी बड़े चौकस रहते हैं। संयमी उसकी उपेक्षा करता है। निर्मम, निरहंकार आदि चित्त-वृत्तियों को अपनाकर इन्द्रियसंयम के द्वारा जिस बुद्धियोग या प्रज्ञा को ज्ञानवादी प्राप्त करते हैं, वही कर्मयोग का भी लक्ष्य है। ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति में दोनों एकमत हैं। इसके लिए एक दृष्टि इस अध्याय में रक्खी गई है। अब उसकी अधिक व्याख्या तीसरे अध्याय में आती है।

हम देख चुके हैं कि दूसरे अध्याय में जिसका नाम ही सांख्य-योग है गीताकार ने सांख्य मार्ग के बुद्धियोग की अनेक युक्तियों को खुले जी से अपनाया है, किन्तु कर्मों को छोड़ देने में उन्हें अभिरुचि नहीं है, वरन् उनका जो निजी दृष्टिकोण था जिसे हमने लगभग उन्हीं के शब्दों में प्रज्ञादर्शन कहा है, उसके साथ या उसके घाट पर सांख्य के बुद्धि योग की उक्तियों के दोषों का ऐसी बारीकी से मेल कराया गया है कि श्रोता का मन आश्वस्त हो जाता है। जीवन में मन या बुद्धि की तैयारी के लिये जो सांख्यवादी कहते हैं वही माँग तो प्रज्ञावाद की भी है। इतनी बात भूमिका के रूप में स्पष्ट कर लेने के बाद अब अगले अध्याय में गीताकार को खुलकर बताना चाहिए था कि कर्मयोग का अपना स्वरूप क्या है। वस्तुतः तीसरे अध्याय का यही विषय है, और इसी के अनुसार उसका नाम है 'कर्मयोग अध्याय'।

तीसरा अध्याय कर्मयोग

अर्जुन का खरा प्रश्न

इस अध्याय के पहले दो श्लोक बहुत चुभते हुए हैं, उनमें अर्जुन ने आलोचक के रूप में पहली ही बार कृष्ण से खरी-खरी बात की है—

अगर बुद्धि का मार्ग वढ़कर है तो स्पष्ट कहिए मैं उसे ही स्वीकार करूँ। फिर क्यों मुझे घोर कर्म के पचड़े में डालते हैं? आप की वात में कुछ ऐसा आधा तीतर आधा वटेर है कि मेरी साफ समझ में नहीं आता कि आप का अभिप्राय क्या है। जो निश्चित एक मत हो वही बताइए (३।१।२)। अर्जुन जानता था कि कृष्ण प्रज्ञावादी हैं, और प्रज्ञावाद को कर्मवाद मान्य था। फिर कृष्ण ने सांख्य के बुद्धियोग का इतना भारी लड़ा प्रज्ञा दर्शन के सिर पर क्यों रख दिया इससे अर्जुन का क्षोभ स्वाभाविक था। दूसरी ओर कृष्ण का पैंतरा भी निपुणता से भरा हुआ है। पहले अध्याय में अर्जुन का मन विषाद की जिस अवस्था में पहुँच गया था वही तो कर्म छोड़ देनेवाले सांख्य-मार्गियों की दृष्टि थी। एक प्रकार से अर्जुन पूरी तरह अनजान में ही उसी मार्ग का पक्का शिष्य वन गया था। पर ऊपर से उसने कृष्ण से यह भी कहा कि मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे उपदेश दीजिए। अतएव चतुर गुरु के रूप में कृष्ण ने बारीक मनोविज्ञान से काम लिया। उन्होंने वे सब बातें कह डालीं जो अर्जुन के मन में पहले से भर गई थीं, अर्थात् वुद्धियोगवालों की सारी युक्तियों को गिना डाला और उनके जीवनदर्शन का पूरा चित्र ऐसे रोचनात्मक ढंग से खींचा कि स्वयं अर्जुन को भी पूछना पड़ा कि 'क्या सचमुच आप का भी यही अभिप्राय है।' लोकभाषा में कह सकते हैं कि कृष्ण ने उसका तो काम चलाया पर माल अपना ही बेचा। अर्थात् सांख्ययोग की बात करते हुए प्रज्ञादर्शन के रूप में कर्मयोग की भूमिका खड़ी कर दी।

सांख्य और योग की दो निष्ठाएं

जब अर्जुन ने अपने प्रश्नों से कृष्ण को गाढ़े में उतार दिया तो यह अनिवार्य हो गया कि स्पष्ट बात कही जाय। फिर भी उन्होंने सच्ची भागवती दृष्टि से सांख्य का निराकरण नहीं किया, और कहा मैंने ही तो पुराने समय से लोक में दो निष्ठा चलाई हैं। सांख्यों का बुद्धियोग और कर्मयोगियों का कर्मयोग दोनों का उपदेष्टा मैं ही हूँ। प्राचीन धार्मिक

मान्यता के अनुसार सांख्य के आचार्य कपिल और कर्मयोग के आचार्य हिरण्यगर्भ दोनों ही भगवान् के अवतार हैं। जहाँ से ज्ञान की धारा बही है वहीं तो कर्म के धारा का भी स्रोत है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का ही मूल वेद है। ऐसा मनु ने भी कहा है। अवश्य ही देवमार्ग और यतिमार्ग दोनों का उल्लेख ऋगवेद में हैं। वहाँ कहा है—"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः' (ऋग् वेद, १०।१३६।४)। देवमाता अदिति के सात पुत्र सात आदित्य देवता हैं और सात ही वातरशना मुनि हैं। दोनों में सख्य है किन्तु देवता मुनिवृत्ति स्वीकार न करके मुनियों को ही सौकृत्य अर्थात् प्राणात्मक कर्म या प्रवृत्ति के लिए सखा बनाते हैं। यही वैदिक कर्मयोग की दृष्टि थी। जिसके लिए भगवान् ने आगे कहा है कि इस अव्यय योग को मैंने 'विवस्वान्' से कहा था, और विवस्वान् ने उसे मनु को सिखाया। मनु से यह परंपरा राजर्षियों को मिली। इस प्रकार भगवान् का यह कहना सत्य है कि ब्रह्मवादी ज्ञानमार्ग और कर्मवाद दोनों की धारा एक ही मूल से निकलकर लोक में फैली। इसी बात को महाभारत ने यों कहा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि की इच्छा से सनकादि सात मुनियों को वनाया, पर वे निवृत्तिमार्गी हो गए। फिर उन्होंने दूसरे सात ऋषि वनाए। जिनसे प्रजाओं का कर्म चला। यही बात पुराणों ने कुछ दूसरे ढंग से कही है, अर्थात् दक्ष प्रजापति ने पांचजनी नामक अपनी स्त्री में सहस्त्र पुत्र उत्पन्न किये। पर वे नारद के उपदेश से दिशाओं में चले गये, लौटे नहीं। तब वीरणी नामक स्त्री से उन्होंने साठ कन्यायें उत्पन्न कीं जिनसे मैथुनी सृष्टि हुई और प्रवृत्ति मार्ग का क्रम चला।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मूल एक होते हुए भी वैदिक दृष्टिकोण प्रवृत्ति-मलक ही रहा। निवृत्ति से श्रमणमार्ग विकसित होता गया और प्रवृत्ति से यज्ञ मार्ग। कृष्ण ने यज्ञमार्ग की त्रुटियों की भी कड़ी आलोचना की। भोग, ऐश्वर्य, स्वर्ग आदि अनेक कामनाओं के प्रलोभन से होनेवाला कर्म-काण्ड सचमुच वेद के तत्त्वज्ञान का अपलाप था। उसके स्थान पर गीता में दो बातें हैं, एक तो यज्ञ की बहुत ही व्यापक और उदार नई व्याख्या और दूसरे

कर्म शब्द की नई व्याख्या। जब यजुवद के पहले मन्त्र के अनुसार यज्ञ ही श्रेष्ठकर कर्म माना जाता था तो उस यज्ञ में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सभी उत्तम कर्म सम्मिलित थे। कालान्तर में यज्ञ का यह प्रतीकात्मक आधार धुँधला पड़ गया। उसी की पुनः प्रतिष्ठा गीता में जिस नये ढंग से की गई है, वही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। समस्त जीवन ही कर्ममय है और फल-त्याग की बुद्धि ही कर्म का यज्ञात्मक रूप है। यही गीता के अमृत दूध का मथा हुआ मक्खन है। इस श्रेष्ठ ज्ञान की स्थापना के लिए भगवान् ने जिन युक्तियों का आश्रय लिया वे तीसरे अध्याय में क्रमशः आई हैं।

कर्म के पक्ष में युक्तियां

पहली बात तो यह है कि जो कर्म न करने की बात कहे उससे पूछना चाहिए कि क्या कर्म से मुँह मोड़ कर पल भरके लिए भी कोई तुम जीवित रह सकते हो। इसका उत्तर एकदम स्पष्ट और सुनिश्चित है (नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ३।५)। कर्म छोड़ बैठने से ही कोई निष्कर्म नहीं बन जाता और संन्यास ले लेने से ही सिद्धि मिल जाती हो ऐसा भी हम नहीं देखते। दूसरे हरेक से बलपूर्वक कर्म करानेवाला तो प्रकृति का पहिया है। वह तीन गुणों की शक्ति से घूम रहा है। ऐसा कोई नहीं जो जन्म लेकर उस पहिए पर न चढ़ा हो। यदि कोई यह समझता है कि मैंने उस पहिए को जीत लिया तो वह ढोंगी है। यह क्या बात हुई कि ऊपर से तो कर्मेन्द्रियों पर कन्टोप चढ़ा दिया, पर मन से विषयों को टटोलते रहे। इसके लिए स्वयं अपनी जाँच करने से सचाई खुल जाती है। भला मानुष वह है जो और चाहे कुछ करे या न करे पाखंड न करे, जो जैसा है वह अपने को वैसा ही प्रकट करे। मिथ्याचार जीवन का घोर शत्रु है। उससे मनुष्य का सारा व्यक्तित्व धुवा बन जाता है। समस्या इन्द्रियों की बाहरी रोकथाम की नहीं, समस्या तो मन के सुधार की है। इन्द्रियों को मन से रोको और चाहे जितना कर्म करते रहो, तभी सच्चा असक्त बना जा सकेगा यही कर्मयोग की विशेषता है।

गीताकार की कर्म के पक्ष में तीसरी युक्ति नितान्त भौतिक और स्थूल है—"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण:" (३।८)। प्रतिदिन का रहन-सहन और जीविका भी कर्म के बिना नहीं चल सकती। इससे अधिक दृढ़ उक्ति कर्म के पक्ष में आज भी देना संभव नहीं है। या तो मनुष्य स्वयं कर्म करे, या दूसरे के पसीने की कमाई से जीवित रहे। इन दोनों मार्गों में कोई समझौता है ही नहीं।

जब कर्म के बिना कोई साँस भी नहीं ले सकता तो दसों दिशाओं में चलने के लिए केवल कर्म का ही मार्ग रह जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऐसे कर्म में तो लोग रात दिन लगे हैं। फिर नई बात आप क्या चाहते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि केवल कर्म करना पर्याप्त नहीं, यद्यपि कुछ न करने से उतना भी अच्छा है, पर सच्चा कर्म वह है जो यज्ञ की भावना से किया जाय। उसके अनुसार सारा जीवन ही यज्ञ बन जाता है। यज्ञ वह है जिसमें कुछ त्याग किया जाय, कर्मरूपी यज्ञ में कर्म के फल का त्याग ही उसे पूर्ण करता है। कर्म को छोड़ बैठने से तो उस यज्ञ का स्वरूप ही बिगड़ जाता है। यज्ञार्थ कर्म कहें या निष्काम कर्म एक ही बात है। कर्मफल के त्याग से ही कर्म का यज्ञीय रूप बनता है, फिर ऐसा भी नहीं कहा गया कि जब कर्म का फल मिलने लगेगा तो उसे न लेने का ही आग्रह बना रहेगा। सच तो यह है कि फल की आसक्ति का त्याग ही इस सारी युक्ति का सार है। अतएव उत्तम कर्म वह होगा जिसमें फल की सिद्धि और असिद्धि का प्रश्न समभाव में रक्खा जाय। और दूसरी ओर कर्म करने का जितना कौशल है, उसकी पूरी चतुरता से काम किया जाय। यह भारी बात है और इसका अर्थ यह है कि मनुष्य में मन प्राण, और शरीर की जितनी शक्ति है उसकी भरपूर मात्रा कर्म में उँड़ेल देनी चाहिए। इस युक्ति से बढ़कर कर्म की और युक्ति समझ में नहीं आती। यही कर्मयोग शास्त्र की भित्ति है। यज्ञार्थ कर्म करो या मुक्तसंग होकर कर्म करो, यही इसका सार है।

यज्ञ और गीता में उसका नया उच्च अर्थ

यज्ञ कोई साधारण वस्तु नहीं। वह तो प्रजाओं के जीवन में पिरोया हुआ सूत्र है। क्या कोई यज्ञ से भाग सकता है? विश्वनिर्माता ने यज्ञ ही प्रजाओं को बनाया है, अतएव प्रत्येक जीवन यज्ञ का ही रूप है। प्रजापति ने स्वयं अपनी आहुति डाली तो यह विश्वरूपी सर्वहुत यज्ञ चला और चल रहा है। मनुष्य भी जिस काम में अपनी सर्वाहुति नहीं देता वह काम यज्ञ का रूप नहीं ग्रहण कर पाता। यज्ञ की यह विराट व्याख्या ठेठ वैदिक थी। वहाँ सैंकड़ों प्रकार से विश्व की रचना को जिसमें मानव का जन्म भी शामिल है यज्ञ कहा गया है। वह विश्वकर्मा प्रजापति समस्त भुवनों की आहुति इस यज्ञ में डाल रहा है और इसके ऋषि होता और पिता के रूप में इसे अपना आशीर्वाद दे रहा है। वह इससे अपने लिये कुछ नहीं चाहता केवल यज्ञ की पूर्ति चाहता है। कर्मयोग शास्त्र की ऐसी उदात्त व्याख्या गीता से पूर्व किसी अन्य शास्त्र में देखने-सुनने में नहीं आती। वेदों में इस विश्व यज्ञ को प्रजापति का 'कामप्र' यज्ञ कहा गया है। अर्थात् जो ईश्वर की इच्छा है वही इस विश्वयज्ञ से मिली हुई है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हैं। यज्ञ से अतिरिक्त और किसी वस्तु के लिए और किसी फल के लिए इच्छा व्याप्त नहीं होती। यज्ञ स्वयं अपने में पूर्ण है। ऐसे ही यज्ञात्मक कर्म भी। 'एष वः अस्तु इष्टकामधुक्' इन शब्दों का संकेत भी इसी ओर है। विश्व की शक्तियों के साथ जिन्हें देव कहा गया है अपने आप को जोड़ना यज्ञ की व्याख्या वेद और गीता दोनों को मान्य है। यज्ञ तो जीवन की चक्रात्मक प्रवृत्ति है। इसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनों का समन्वय किया जाता है। जो व्यक्ति केवल अपने लिए खाता-कमाता है उसे स्पष्ट शब्दों में चोर कहा गया है, क्योंकि उस मनुष्य का जीवन यज्ञात्मक नहीं है। समाज और विश्व के एक अंग के रूप में जीवित रहना यज्ञ है।

प्रश्न यह है कि कर्मयोग शास्त्र की मीमांसा की भूमिका के रूप में भगवान् ने यज्ञ की यह नई व्याख्या क्यों आवश्यक समझी। इसका उत्तर

यह है उस युग में यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म माना जाता था। कर्म और यज्ञ दोनों एक दूसरे के पर्याय हो गये थे "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" (३।१४) यह परिभाषा गीता ने स्वयं दी है। कर्मयोग का सच्चा अर्थ बताने के लिए यह आवश्यक था कि स्वर्गादि की अनेक कामनाओं से यज्ञ करने के पक्षपाती एवं कर्मफल को ही सब कुछ माननेवाले दृष्टिकोण से लोगों को मुक्त किया जाय। इसे ही पहले कुछ उपहासात्मक शब्दों में वेदवाद कहा जा चुका है। कृष्ण ने यज्ञ की जो नई व्याख्या यहाँ दी है, उससे तो समस्त जीवन ही प्रजापति के यज्ञ से उत्पन्न हुआ है। हम सब उस यज्ञ के अंग हैं। जैसे कर्म आवश्यक हैं वैसे यज्ञ भी। आगे और भी स्पष्ट शब्दों में कहेंगे कि ब्रह्मा के विश्वरूपी विराट मुख में अनेक प्रकार के यज्ञ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भरे हुए हैं। उनमें भी द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञान यज्ञ से तात्पर्य पोथीपत्रा बाँच लेना नहीं, किन्तु उस समत्वबुद्धि की उपलब्धि है जो सच्चे कर्मयोग की आत्मा है। इसके अनन्तर बाह्य कर्मप्रवृत्ति और आत्मज्ञान विषयक प्रवृत्ति का समन्वय बताते हुए कहा गया है कि यदि आत्मा के लक्ष्य से जीवन में प्रवृत्त हुआ जाय तभी कर्म और अकर्म दोनों में समत्व-बुद्धि की प्राप्ति संभव है। मुक्तसंग होकर किया हुआ कर्म कर्म न करने के ही तुल्य होता है। कर्म फलों की लालसा का परित्याग करने के लिए आत्मतृप्त होना आवश्यक है। एक प्रकार से आत्माराम और आत्मतृप्ति वाली युक्ति का स्वारस्य कर्मयोग के समर्थन में ही है।

आत्मज्ञान और कर्म दोनों की साधना

आत्मा और कर्म दोनों को कैसे साधा जाय, इसका दृष्टान्त राजर्षि-जनक के जीवन से दिया गया है जो शरीर के सब व्यवहारों को साधते हुए भी पूर्ण वैराग्य में मन को लीन रखते थे। ज्ञान और कर्म के मेल से जनक का जीवन बना था। ब्राह्मण तो ब्रह्मज्ञानी प्रसिद्ध ही थे किन्तु क्षत्रियों ने भी ब्राह्मणों की परंपरा को जिस प्रकार पूरी तरह आत्मसात् करके विकसित और लोकोपयोगी बनाया वह जनक आदि राजर्षियों के जीवन से प्रकट होता है। मनु, इक्ष्वाकु अम्बरीष, रघु, राम आदि चक्रवर्ती कर्मयोग के आदर्श

थे। उनके उदात्त चरित्र दृष्टान्त रूप से लोक में फैले हुये थे। इसी कोटि में उपनिषदों के अश्वपति कैकेय और प्रवहण जैवलि भी आते हैं। ब्रह्म-ज्ञानी याज्ञवल्क्य के मित्र और शिष्य विदेह जनक का चरित्र भी जैसा उप-निषदों में है कर्मयोग के उक्त आदेश की ओर ही संकेत करता है। मिथिला राजधानी जल जाय तो भी मैं अपनी हानि नहीं समझता, अथवा मेरा दाहिना अंग जल जाय तो बायें अंग में व्यथा नहीं होती, इस प्रकार की दृढ़ चित्तवृत्ति ही बुद्धियोग है जिसे गीता में समत्वयोग कहा गया है। अतएव न केवल ज्ञान और कर्म के उत्तम आदर्श की प्राप्ति के लिए कर्म आवश्यक है किन्तु लोकसंग्रह की दृष्टि से भी कर्म ही एकमात्र मार्ग है। "लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि" (३।२०)। लोक की यह रीति है कि महाजन या बड़े आदमी जैसा करते हैं छोटे भी उसी मार्ग पर चलते हैं। इस दृष्टान्त को भगवान् स्वयं अपने ही ऊपर डालकर बात को और ऊँचे धरातल पर उठा ले जाते हैं—हे अर्जुन, मैं ईश्वर हूँ, मुझे कुछ करना या पाना शेष नहीं है, फिर भी मैंने कर्म का मार्ग अपनाया है जिससे लोक की रीति न बिगड़ने पावे (३।२२, २३, २४, ३।२५)। मूर्ख और पण्डित दोनों को ही कर्म करना है। एक कर्मफल के फांसे में बँधा रहता है, दूसरा उससे मुक्त रहता है। जीवन की इस युक्ति को जब चाहे देखा जा सकता है। चतुर व्यक्ति को इतना और चाहिए कि जो कर्म में आसक्त भी हैं उन सामान्य व्यक्तियों को ज्ञान की ऊँची बातें बघारकर दुविधा में न डालें।

कर्मों में असंगभाव की प्राप्ति के लिए अहंकार का हटना आवश्यक है। यह तभी होगा जब मनुष्य यह समझे कि कर्ता मैं नहीं हूँ। सब कर्म प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणों के फल हैं। प्रकृति अर्थात् जगत का यही स्वभाव है। मनुष्य योग दे तो भी जगत चलेगा, और योग न दे तो भी वह रुकेगा नहीं। ऐसा समझ लिया जाय तो अपन आप को कर्ता मानने का भ्रम हट जायगा। कर्म योग की इस आस्था को भगवान् ने अपना मत कहा है, अर्थात् यही वह कर्मयोग है जो गीता का

प्रतिपाद्य है। जो इस पर चलते हैं वे बुद्धिमान् व्यक्ति पूरा अध्यात्मफल पाते हैं। जो कर्म से भागते हैं उनसे भी गुणों का चाबुक कर्म करा ही लेगा। पर जीवन का जो उच्च निर्मल पक्ष है उससे वे वंचित रह जायँगे। सब प्राणी स्वभाव के अनुसार वर्तते हैं, बल प्रयोग से कुछ लाभ नहीं "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" (३।३३)। अध्यात्म, मनोविज्ञान और व्यवहार इन तीनों का यही सारभूत सूत्र है। इस मार्ग के दो नियम हैं, एक तो स्वभाव से ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति विषयों की ओर है यह जानकर उन्हें ढीला नहीं छोड़ देना है वल्कि धीरे-धीरे उन्हें संयम के मार्ग पर लाना है। दूसरी बात लोक-संग्रह वाले के लिए कर्म और भी आवश्यक है, अर्थात् अपने स्वभाववश जिसको जो कर्म प्राप्त हुआ है वही उसका स्वधर्म है। उसी का पालन आवश्यक है। चलने के मार्ग अनेक हो सकते हैं पर चलना किसी एक से ही पड़ेगा। जो जिस पर चल रहा है वही उसका मार्ग है। एक को बुरा दूसरे को अच्छा समझ कर जो मार्ग बदलता रहता है वह गन्तव्य स्थान की ओर प्रगति नहीं कर सकता। जिसे कर्म करना है उसे अपने कर्म के प्रति ऐसी दृढ़ आस्था और पूज्य बुद्धि अपनानी होगी—श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः (३।३५)।

कर्मों के दो भेद पाप और पुण्य

यहाँ जब अच्छे बुरे स्वभाव या कर्म का प्रश्न आया तो अर्जुन को संदेह हुआ कि कर्मों में पाप और पुण्य का कारण क्या है? कौन ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को भलाई से बुराई की ओर खींच ले जाती है। इस प्रश्न का एकदम सीधा और स्पष्ट उत्तर कृष्ण ने दिया—हर एक के स्वभाव में जो रजोगुण का अंश है वह काम या क्रोध के रूप में उभर आता है और पाप की ओर ले जाता है। यह शत्रु साथ लगा हुआ है। यह एक आग है जो सदा धधकती रहती है। दूसरे के कहने से इसका बोध उतना नहीं होता जितना स्वयं सोचने से। ज्ञानी के ज्ञान को भी काम और क्रोध का धुवाँ ढक लेता है। बुद्धिवादी सांख्य और कर्मवादी योगी दोनों के लिए इस

शत्रु का भय एक जैसा है। दोनों के लिए मुख्य समस्या कर्म छोड़ने या न छोड़ने की नहीं है, किन्तु काम और क्रोध को जीतकर वश में करने की है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषय, पाँच भूत, मन और बुद्धि इतना काम और क्रोध का क्षेत्र है। सर्वत्र इसकी शुद्धि का उपाय करना चाहिये। अतएव गीताकार की दृष्टि में इन्द्रिय-संयम उच्च जीवन की सीढ़ी का पहला डंडा है। उस पर पैर रक्खे विना कोई ऊपर नहीं चढ़ सकता।

इसी प्रसंग में शरीर के विभिन्न कोषों के तारतम्य की ओर ध्यान दिलाया गया है। कठोपनिषद् में भी यह प्रसंग आता है। यदि हम वास्तविक दृष्टि से देखें तो सबसे स्थूल पाँचभूतों का बना हुआ शरीर है, उसे भूतात्मा कहते हैं। उसके ऊपर ज्ञान और कर्म की इन्द्रियाँ हैं। उसे प्राणात्मा कहते हैं। इन्द्रियों का नियामक मन है। यह इन्द्रियानुगामी मन प्रज्ञानात्मा कहा जाता है। यही मन जब आत्मकेन्द्रानुगामी और विषयों से विशुद्ध होता है तो उसे बुद्धि या विज्ञानात्मा कहते हैं। उससे भी ऊपर पुरुष या हृद्देश में रहनेवाला आत्मा है। वह सबके ऊपर है। सब उसके अनुशासन में रहते हैं। आत्मा की ही प्रेरणा या शक्ति से सर्वप्रथम अपने को वश में करना चाहिए। वैसा कर लेने पर बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय सब में संयम का भाव व्याप्त हो जाता है (३।४२–४३)।

चौथा अध्याय–ज्ञान–कर्म सन्यास

कर्म योग की पुरानी परम्परा

तीसरे अध्याय में जिस कर्मयोग शास्त्र की नई व्याख्या अर्जुन को बताई गई है उसे ही चौथे अध्याय में मानवीय सृष्टि के आरंभ से चली आती हुई कहा गया है। विवस्वान् सूर्य की संज्ञा है। सूर्य को ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रयी विद्या कहा है। त्रयी का तात्पर्य त्रिकभाव से है। उसी का एक रूप ज्ञान कर्म और भक्ति है। सूर्य में ये तीनों हैं। सूर्य विश्व का नियामक है। उसी की परम्परा विवस्वान् के पुत्र मनु को प्राप्त होती है और मनु से वह समस्त मानवों में आई है। प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति राजा

जो मानवों को धर्म-पथ में चलाता है वह मनु प्रजापति के अंश से निर्मित होता है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म की परम्परा का अध्यात्म सूत्र सर्वत्र व्याप्त है। इस परम्परा का मूल स्रोत स्वयं ईश्वर है। इस पर अर्जुन को जो शंका हुई वह आजकल की ऐतिहासिक शंका है। उसने पूछा—'हे कृष्ण! आपका जन्म पीछे हुआ, विवस्वान् आपसे बहुत पहले हुए, फिर यह कैसे संभव है कि आपने विवस्वान् को योग सिखाया। वस्तुतः इन प्रश्नों में कोई सार नहीं है। कृष्ण ने जो उत्तर दिया, वह मानव की सत्ता को देशकाल के चौखटे से ऊपर मानकर चलता है—मेरा जो दिव्य ईश्वरीय रूप है वह तो सदा से है। उसी भाव से मैं सबका उपदेष्टा हूँ। ईश्वर के अवतार और मानव के जन्म अनगिनत हैं। मानव को इतिहास द्वारा इन सबका ज्ञान नहीं हो पाता। अतएव इस प्रकार के अध्यात्म विचार में ज्ञान की नित्यता मुख्य है, भौतिक शरीर का आगे-पीछे जन्म लेना महत्व नहीं रखता। प्रत्येक मानव जिसके हृदय में ज्ञान और कर्म का यह दिव्य भाव उत्पन्न होता है वह ईश्वर भक्त और देव सरीखा होता है।

ईश्वर का अवतार

ईश्वर अजन्मा और अव्यय हैं। वह प्रकृति का अधिष्ठाता या स्वामी है और स्वयं अपनी माया से अनेक योनियों में जन्म लेता है। यही चैतन्य तत्व का भौतिक धरातल पर आविर्भाव है। आत्मा का शरीर में आना इससे बढ़कर और कोई रहस्य संसार में नहीं है। इसके चाहे जितने कारण कहे सुने जायँ सब अपर्याप्त रहते हैं। सबके अंत में ईश्वर की इच्छा माया क्रीड़ा या लीला ही एकमात्र कारण बचता है जो तर्क से अतीत है। शरीर में आत्मा का आना यही जन्म है। किन्तु जब किसी शरीर में ईश्वर की विशेष शक्ति प्रकट होती है, भारतीय परिभाषा में उसे ईश्वर की विभूति कहते हैं। इस प्रकार की कुछ विभूतियाँ नवें अध्याय में हैं और उनकी विशेष गणना दसवें अध्याय में की गई है। यह विभूतियोग भागवतों को बहुत प्रिय था। अनेक प्रकार से गिनती करने के बाद भी सर्वोपरि सिद्धान्त यही

है कि जहाँ विशेष शक्ति, सौन्दर्य या ज्ञान का आविर्भाव हो वह सब ही भगवान् के तेज से उत्पन्न हुआ माना जायगा, अर्थात् वह ईश्वर का अवतार ही है। इस प्रकार के अवतारों की संख्या नहीं, "संभवामि युगे युगे" यही ठीक है। पर इन सबका उद्देश्य समान होता है, अर्थात् अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा, अथवा दुष्टों का विनाश और साधुओं का उपकार। धर्म की प्रतिष्ठा के बिना समाज का घूमता हुआ चक्र सकुशल नहीं रह सकता। इसलिए दैवी शक्ति, आसुरी शक्ति के पराभव के लिए प्रकट होती रहती है। भारतीय दृष्टिकोण मानवीय और अतिमानवीय दोनों इतिहासों की इसी दृष्टि से व्याख्या करता है। भगवान् का अवतार भागवत धर्म की भित्ति है। उसी का गीताकार ने अत्यन्त हृदयग्राही शब्दों में वर्णन किया है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"॥ ४।७
"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"॥ ४।८

चौथे अध्याय का नाम ज्ञान-कर्म संन्यास योग है। इसका मुख्य तत्त्व उस प्रकार के आदर्श व्यक्ति की व्याख्या करना है जिसमें ज्ञान का अभ्युदय हो और जो अनासक्तिमय कर्मयोग के मार्ग का भी अनुयायी हो। गीता के कुछ हस्तलेखों में इस अध्याय को ब्रह्म यज्ञ या ब्रह्मार्पण योग भी कहा है अथवा कहीं-कहीं विवस्वान् ज्ञान योग भी नाम आया है। इन सबका लक्ष्य ज्ञान और कर्म के समन्वय में है, अर्थात् कर्म योग से कर्मफल का त्याग करने वाला और ज्ञान योग से ज्ञानी की बुद्धि का आश्रय लेने वाला, ऐसा व्यक्ति ही लोकोद्धार में समर्थ होता है।

पाँचवाँ अध्याय—कर्म-संन्यास योग

पाँचवें अध्याय का नाम कर्म–संन्यास योग है। इसमें अर्जुन ने सीधा प्रश्न किया है कि ज्ञान और कर्म में कौन-सा मार्ग ठीक है। कृष्ण का उत्तर भी इतना ही निश्चित और स्पष्ट है—कर्मों का संन्यास और कर्म

योग दोनों हितकर हैं और संसार के बन्धन से मुक्त कराने वाले हैं; किन्तु कर्म संन्यास से कर्म योग अधिक श्रेष्ठ है। सांख्य और योग दोनों निष्ठाएँ पुरानी हैं, प्राचीन काल से चली आई हैं, इन्हें अलग मानकर झगड़ा करना मूर्खता है। पहले इन्हें एक समान आदर की दृष्टि से देखते थे। यदि एक मार्ग पर भी ठीक प्रकार से चला जाय तो वही फल मिलता है जो दूसरे का है। मृत्यु के वाद सांख्य मार्गी जो ऊँचा स्थान प्राप्त करते हैं वही कर्म योगियों को मिलता है। इसलिए इन दोनों को समान समझने वाली दृष्टि समीचीन है।

गीता का यह मत इतना प्रबल और समर्थ है कि किसी के लिए सन्देह का स्थान नहीं। फिर भी आश्चर्य है कि ज्ञान और कर्म का विवाद आस्त्र जीवियों में चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है।

कर्मयोगी का लक्षण

इस समन्वय के मूल में कृष्ण ने कितने ही कारण भी बताये हैं। जो कर्मयोगी संयमी नहीं है, वह संन्यासी के समान ही योग से युक्त होकर ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। योग-युक्त की पहचान यह है कि उसका मन शुद्ध होता है, वह इन्द्रियों को अपने बस में रखता है और उसका अन्त करण संयम में स्थिर रहता है। वह सब प्राणियों को अपने ही समान देखता है। कर्म के प्रति उसकी भावना निर्भीक रहती है। वह जैसे कुछ करता हुआ भी अपने को कुछ करने वाला नहीं मानता। दूसरी बात यह है कि जितने इन्द्रिय-व्यापार हैं वे कर्मयोगी के लिए बिल्कुल स्वाभाविक बन जाते हैं। इन्द्रियाँ आवश्यकता के अनुसार अपने-अपने विषयों में जाती हैं पर कर्मयोगी का मन विषयों में आसक्त नहीं होता। आत्म-शुद्धि की यह युक्ति जो प्राप्त कर लेता है वही योगी है, योगी को ही कर्म-शान्ति मिलती है। फल के पीछे जाने वाले को नहीं। सत्य बात यह है कि यहाँ ईश्वर ने किसी को न कर्त्ता बनाया है और न कर्मों का विधान किया है और न कर्म के फल में रुचि का ही उपदेश दिया है। ये तीनों बातें मनुष्य के लिए स्वभाव से ही हो रही हैं, अतएव उसी भावना से उन्हें होने देना चाहिए।

कर्मयोगी के लिए भी ज्ञान की महिमा है। ज्ञान का अर्थ है मनस्शक्ति का अधिकतम विकास। जब मन में सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है तो जैसे इन्द्रियों के मार्ग में उज्ज्वल प्रकाश भर जाता है। ज्ञान की स्थिति में मनुष्य के मन में सबके प्रति और प्रत्येक स्थिति में समता और सन्तुलन की शक्ति प्राप्त होती है। उसकी स्थिर बुद्धि में न हर्ष होता है, न विषाद। वह अक्षय सुख या उच्च आनन्द के स्रोत में जुड़ जाता है। बाहरी भोगों में उसे सुख नहीं मिलता। वह यह जान लेता है कि जितने विषय हैं वे सब दु:ख के देने वाले हैं। काम और क्रोध मनुष्य के लिए सबसे अधिक दुखदायी हैं। अतएव सच्चे ज्ञान की कसौटी यही है कि मनुष्य इसी शरीर के रहते काम और क्रोध को पूरी तरह अपने बस में कर ले। जो इस प्रकार अन्तर की ज्योति से और अन्तःकरण के सुख से युक्त हो जाता है वह कर्मयोगी ब्रह्म-तुल्य बन जाता है और जो ब्रह्म का सुख है वह उसे प्राप्त होता है। जिन ऋषियों ने अपने पाप या मैल को क्षीण कर दिया उन्होंने अवश्य ही इस प्रकार का ब्रह्म-सुख पाया था। काम और क्रोध से नितान्त रहित हो जाने पर ही इस प्रकार के अमृत-आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। उस समय यह प्रतीति होती है मानो ब्रह्म का आनन्द अपने चारों ओर भरा हुआ है।

इस प्रकार की आनन्दमयी स्थिति प्राप्त करने के लिए कुछ लोग प्राणायाम और योग को भी साधन मानते थे। भगवान् ने उसका भी समर्थन किया है (५।२७), किन्तु मुख्य बात इन्द्रिय, मन, बुद्धि का संयम एवं काम एवं क्रोध से मुक्त होना ही है।

छठा अध्याय–ध्यानयोग

छठे अध्याय की संज्ञा ध्यानयोग, अध्यात्मयोग, आत्मसंयम योग, संन्यास योग आदि हस्तलिखित प्रतियों में पाई जाती हैं। इसमें मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान, धारणा एवं योग-साधन का उल्लेख किया गया है। मन को एकाग्र करके पवित्र स्थान में सुकुमार आसन पर बैठ कर मेरुदण्ड ग्रीवा और मस्तक को सीध में रखते हुए नासाग्र दृष्टि से जो योग-साधन

करता है उसे शान्ति और सिद्धि मिलती है। इस प्रकार का क्रियात्मक योग जो आसन, प्राणयाम, धारणा और ध्यान की युक्ति को स्वीकार करके किया जाता है वह अवश्य ही फलदायी है। भारतवर्ष में यह सनातनी योग विद्या पूर्व काल से चली आयी है और गीता में इसे पूरी तरह स्वीकृत किया गया है। वस्तुतः सांख्य-मार्ग से ज्ञान साधन करने वाले अथवा कर्म-क्षेत्र में रहकर कर्म करने वाले दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए योग की आवश्यकता है, क्योंकि इससे उत्तम प्रकार के स्वास्थ्य और मनोबल दोनों की प्राप्ति होती है।

योग की बुद्धिगम्य परिभाषा

कृष्ण ने योग की परिभाषा प्रज्ञा दर्शन के आधार पर इस प्रकार की—योग न कोई चमत्कार है और न शरीर को त्रास या पीड़ा पहुँचाना ही योग है। जो बहुत खाता है वह योगी नहीं। जो बिल्कुल नहीं खाता वह भी योगी नहीं। ज़ो बहुत सोता है वह भी योगी नहीं। जो जागता ही रहता है वह भी योगी नहीं। तब प्रश्न है कि योगी कौन है? इसका उत्तर है कि जो अपने आहार और विहार में सन्तुलित है, जो अपनी कर्म-चेष्टाओं में अति नहीं करता, जो सोने और जागने में नियम का पालन करता है उसी का योग साधन ठीक है (६।१६, १७)। योग साधना में मुख्य बात चित्त का नियमन है। जैसे वायुहीन स्थान में रखा हुआ दीपक एकटक हो जाता है वैसे ही योगी का चित्त विषयों की वायु से विचलित नहीं होता। चित्त का निरोध यही योग की सेवा का फल है। उस स्थिति में व्यक्ति को न वियोग का दुःख होता है न संयोग का सुख। सबका सार यह है कि योगी बनने के लिए मन को वश में करना आवश्यक है।

इस पर अर्जुन को शंका हुई कि कर्म-क्षेत्र में रहते हुए मन को किस प्रकार शान्त बनाया जा सकता है। उसने स्पष्ट युक्ति से यही प्रश्न किया––आपका बताया हुआ योग सफल नहीं हो सकता क्योंकि चंचल मन कभी स्थिर नहीं होता। यह इन्द्रियों को मथ डालता है। मन का रोकना ऐसा है जैसे हवा को बाँधना।

इस पर कृष्ण ने अर्जुन का खण्डन नहीं किया। उन्होंने यही कहा कि तुम ठीक कहते हो। निःसन्देह मन बहुत चंचल है और वश में नहीं आता। फिर भी उसे वश में लाने के लिए दो मार्ग हैं, एक अभ्यास और दूसरा वैराग्य। यदि इन दो उपायों से मन को वश में नहीं लाया जाय तो योग कभी नहीं मिल सकता, पर इन उपायों से अवश्य ही मन को वश में किया जा सकता है।

योग से चूक का डर

भगवान् का इतना निश्चित उत्तर पाकर भी अर्जुन को एक नया संशय उत्पन्न हो गया—यदि योग के लिए प्रयत्न किया जाय और वह सफल न हुआ तो क्या स्थिति होगी? कहीं ऐसा तो नहीं कि संसार का सुख भी छूटे और ब्रह्म का सुख भी न मिले। यह वही बात है जिसे लोक में कहा जाता है कि दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम।

इस प्रकार के संशयवाद का समाधान कृष्ण के पास क्या हों सकता था? उन्होंने अपनी संकल्पशक्ति को प्रकट करते हुए यही कहा—हे अर्जुन, जो कल्याण का मार्ग है उस पर चलकर मनुष्य की दुर्गति नहीं होती। इस मार्ग में जो जितना प्राप्त कर ले उतना ही उसके लिए अच्छा है। जो इस अध्यात्म पथ को स्वीकार करता है पर एक जन्म में उसे पूरा नहीं कर पाता वह फिर अगले जन्म में ऐसी परिस्थितियों के बीच जन्म लेता है कि जहाँ उसे कल्याण मार्ग को पूरा करने की अनुकूलता और सहायता मिलती है। हो सकता है कि वह योगियों के कुल में ही जन्म ले ले, यद्यपि ऐसा संयोग दुर्लभ ही है। किन्तु यह निश्चित है कि पूर्व जन्म की उपार्जित बुद्धि और संस्कार उसे अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। उसका वह पहला संस्कार उसे फिर कल्याण-साधन की ओर खींच ले जाता है। हे अर्जुन, चाहे जितना पढ़ो-लिखो उसकी तुलना में सच्चे योग-मार्ग की थोड़ी-सी जिज्ञासा भी अधिक मूल्यवान है। इस प्रकार अनेक जन्मों में चित्त के मल का शोधन करते हुए, इन्द्रियों को वश में करते हुए, कल्याण-पथ पर

साधनापूर्वक चलते हुए मनुष्य अन्त में सिद्धि प्राप्त करता ही है। तप, ज्ञान और कर्म इन सबकी तुलना में योग सर्वोत्तम है। इसलिए योगी बनना उचित है और उसके साथ ईश्वर की श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है।

सातवाँ अध्याय––ज्ञान-विज्ञान योग

सातवें अध्याय की संज्ञा ज्ञान-विज्ञान योग है। एक से नाना भाव की प्राप्ति विज्ञान है। अनेक से एक की ओर जाना ज्ञान कहलाता है। ये दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। विज्ञान-दृष्टि रचना की प्रक्रिया है, इसे संचर भी कहा जाता है। ज्ञान-दृष्टि से प्रलय या मूल स्रोत की ओर लक्ष्य होता है और नानात्व में व्याप्त एकता का अनुभव किया जाता है। इसे प्रतिसंचर भी कहते हैं। विज्ञान की दृष्टि अत्यन्त प्राचीन और वैदिक दृष्टि है। एक मूल स्रोत से यह विविध सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई इसकी गहरी छान-बीन प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म-ग्रन्थों में पायी जाती है।

परा और अपरा प्रकृति का भेद और स्वरूप

कृष्ण ने विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया को बहुत ही थोड़े शब्दों में किन्तु सुनिश्चित, स्पष्ट रीति से समझाया है। इस सारे विश्व में तीन प्रकार की रचना है :––

(१) अपरा प्रकृति
(२) परा प्रकृति
(३) ईश्वर

इनमें जो अपरा प्रकृति है वह भौतिक एवं जड़ है। उसके ऊपर परा प्रकृति की संज्ञा जीव है जो चेतन है, किन्तु उसे अपरा प्रकृति रूप शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जीव को शरीरी कहा जाता है। इन दोनों से ऊपर ईश्वर तत्त्व है। वस्तुतः ईश्वर का ही अंश जीव है, जो अपरा प्रकृति या भतों के धरातल पर (अवतरित) होता है।

प्रश्न यह है कि परा और अपरा प्रकृति का स्वरूप क्या है? इसे गीता के ये दो श्लोक स्पष्ट रीति से बताते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितत्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह विषय अन्यत्र पुराणों में भी बहुत बार आया है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है। यदि हम विश्व की विवेचना करें तो सबसे पहले स्थल पंचभूत दिखाई पड़ते हैं जिन्हें पंच तत्त्व भी कहा जाता है। इन पंच तत्त्वों से सूक्ष्म मन है। उससे सूक्ष्म अहंकार है। कहीं, कहीं अहंकार और मन को एक ही तत्त्व के दो रूप मानते हैं। अहंकार से सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धि को महत्तत्त्व भी कहा जाता है। महत्तत्त्व से सूक्ष्म स्वयं प्रकृति है जिसे अव्यक्त या प्रधान भी कहते हैं। प्रकृति स्वयं जब अव्यक्त अवस्था में रहती है तब उसके तीन गुण साम्य अवस्था में रहते हैं। जब सत्त्व और तम इन दोनों में रजोगुण लीन रहता है और अपना विशेष प्रभाव प्रकट नहीं करता तो वह गुणों की साम्य अवस्था कहलाती है। तब प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है। किन्तु जब रजोगुण या गति तत्त्व प्रवल हो उठता है तव प्रकृति में महत्तत्त्व अहंकार और पंचभूतों का क्रमशः विकास हो जाता है। प्रकृति की इस व्यक्त दशा को 'ख्याति' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें समस्त रचना प्रकट भाव में आ जाती है।

महत्तत्त्व और अहंकार का भेद भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। समष्टि को महत्तत्त्व कहते हैं और व्यष्टि को मन या अहंकार कहा जाता है। अंग्रेजी शब्दों में महत्तत्त्व या समष्टि को युनिवर्सल और अहं या व्यष्टि को इन्डिवीजुअल कह सकते हैं। समष्टि-भाव से जब शक्ति किसी बिन्दु पर अभिव्यक्त होती है उसे ही मन या अहंकार कहते हैं। वही केन्द्र में आई हुई चेतना जीव कहलाती है।

सृष्टि-रचना के लिए यही प्रकृति पहले एक पुतला तैयार करती है। उसमें पाँच भूत, मन और अहंकार एवं बुद्धि ये आठ तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं किन्तु यह प्रकृति तत्त्व अचेतन और जड़ है, इनको एक में मिलाने वाला चेतन तत्त्व जीव है जो जड़ की अपेक्षा निश्चय ही ऊँची सत्ता रखता है। इसलिये केवल जड़ प्रकृति को अपरा और उसके ऊपर प्रतिष्ठित चेतनात्मक जीव को परा कहा गया है। अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के दो नाम और भी हैं। अपरा या भौतिक प्रकृति को क्षर और परा प्रकृति को अक्षर कहा जाता है। भूतों की संज्ञा क्षर और कूटस्थ जीव की संज्ञा अक्षर है जैसा कि गीता में आगे चलकर कहा है :—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।

(गीता १५।१६)

जव तत्त्वों का विचार प्रकृति की ओर से किया जाता है तब अपरा और परा इन संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। जव पुरुष की ओर से तत्त्वों का विचार किया जाता है तो परा प्रकृति को अक्षर पुरुष और अपरा प्रकृति को क्षर पुरुष कहा जाता है। इन दोनों पुरुषों से ऊपर और इनका नियामक अव्यय पुरुष है। उसे गीता में पुरुषोत्तम कहा है। उसे ही अज भी कहते हैं। जीव की समस्या यही है कि वह प्रकृति के प्रलोभनों से ऊपर उठकर अव्यय पुरुष या पुरुषोत्तम ईश्वर का अनुभव करे। प्रकृति की संज्ञा और व्यवस्था को पहचानना इसका नाम विज्ञान है। और प्रकृति से ऊपर उठकर ईश्वर को पहचानना यही ज्ञान की दृष्टि है। इस अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने अर्जुन से यही कहा कि मैं तुम्हें विज्ञान की दृष्टि और ज्ञान की दृष्टि दोनों बताता हूँ क्योंकि दोनों को जान लेने पर ही व्यक्ति की जानकारी

ज्ञान और विज्ञान

परिपूर्ण बनती है। ज्ञान और विज्ञान दोनों को मिलाकर जो नई बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ही कृत्स्न ज्ञान कहा जाता है। कोई मनुष्य केवल

विज्ञान में रुचि रखते हैं और यथासम्भव सूक्ष्म रीति से प्रकृति की रचना पर विचार करते हैं। कोई ऐसे होते हैं जो प्रकृति की उपेक्षा करते हैं और केवल चैतन्य तत्त्व ईश्वर में ही रुचि लेते हैं। पहले प्रकार के व्यक्तियों को कर्म मार्गी और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को ज्ञान मार्गी कहा जाता है। किन्तु अपने आप में ये दोनों ही अधूरे हैं। इन्हें पूरा बनाने के लिए दोनों के गुणों को मिलाना आवश्यक है। गीता के उपदेश का यही मर्म है। ऊपर जिसे अपरा प्रकृति कहा है वह एक पुतला है, जिसे शरीर कहा जाता है। इस शरीर में जो पंच भूत हैं वे अपनी शक्ति से पंचीकरण-प्रक्रिया के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इन पाँच तन्मात्राओं को और इनको अनुभव करने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को विकसित कर लेते हैं। इन वीसों के विना शरीर का पूरा विकास नहीं होता। दसों इन्द्रियों के ऊपर जो शक्ति उन्हें नियमित या अनुशासित करती है वही मन है। उसे इन्द्रियानुगामी मन भी कहा जाता है। किसी भी इन्द्रिय का सम्बन्ध मन से टूट जाय तो वह इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। उसी मन का और ऊँचा रूप अहं या व्यष्टि की चेतना है, जो एक-एक शरीर में प्रकट हो रही है। जितने शरीर हैं उतने ही अहं हैं। प्रत्येक अहं भी पृथक्-पृथक् जीव या शरीरी हैं। उसे ही शरीर की गति या चैतन्य-शक्ति के रूप में हम दूसरों में देखते और अपने में अनुभव करते हैं। अब एक उस प्रकार की समष्टि की कल्पना करनी पड़ती है जो इन पृथक्-पृथक् व्यष्टियों या जीव रूप चैतन्य-केन्द्रों का स्रोत है, उसे ही महत्तत्त्व कहते हैं। इस शब्द का अर्थ स्वयं प्रकट है जो महत् है वही समष्टि है।

महान् या समष्टि को वैदिक भाषा में महिमा, परमेष्ठिया विराज् भी कहा जाता है। जब विराज् या महत्तत्त्व के भीतर परम पुरुष ईश्वर का सृष्टि-संकल्प प्रकट होता है तो उसी संकल्प को काम या मन कहते हैं और वह अनेक व्यक्तिगत केन्द्रों के रूप में प्रादुर्भूत होता है। एक-एक ब्रह्माण्ड या जगत् उसी का एक-एक केन्द्र है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी भी उसी महत् तत्त्व का व्यष्टि भाव में आया हुआ रूप है।

ईश्वर-तत्त्व की व्याख्या

संक्षेप में अपरा और परा प्रकृति का उपदेश करके कृष्ण ईश्वर तत्त्व की व्याख्या करने लगते हैं। यहाँ जैसा अन्यत्र भी है उन्होंने अपने आपको और ईश्वर को अज्ञेय माना है और इसीलिए कहा है कि मैं अनेक रूपों में सर्वत्र व्याप्त हूँ और यह सारा विश्व मुझमें ऐसा पिरोया हुआ है जैसे वहुत से मन के एक धागे में पिरोये रहते हैं। मुझसे परे और कुछ नहीं है। मैं ही संसार की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ। पृथ्वी की गन्ध और अग्नि का तेज मैं ही हूँ। सब भूतों और प्राणियों का सनातन बीज मैं हूँ। जीवन या प्राण या जीवरूपी चेतना मैं हूँ। जड़ प्रकृति में जो सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुण हैं, वे सब मेरे ही कारण हैं। वे मुझसे उत्पन्न होते हैं, मैं उनसे नहीं। इन तीन गुणों से मिलकर बनी हुई जो प्रकृति है वह मेरी दिव्य माया है, उससे पार पाना कठिन है। पर यदि कोई इसके पार हो जाय तो वह मेरे निकट पहुँच जाता है। प्रकृति के भेदों से ऊपर उठकर उनमें व्याप्त उसमें ईश्वर तत्त्व को जानना यही तो ज्ञान है। सब कुछ ईश्वर का ही रूप है ऐसा मानने वाला ज्ञानी महात्मा दुर्लभ है।

यहाँ लोग भेद-दृष्टि स्वीकार करके अनेक देवताओं को पूजने लगते हैं (७।२०)। वह भी ठीक है क्योंकि मैं नहीं चाहता कि उस प्रकार की भेदमयी श्रद्धा को विचलित करूँ। पर उस पूजा-श्रद्धा का फल सीमित है। वह कुछ काल के लिए ही मन को प्रभावित करता है। देवों को पूजने वाले उन-उन देवों को ही प्राप्त करते हैं, पर उनसे ऊपर उठकर जो ईश्वर की उपासना करता है, उसे ही ईश्वर का सच्चा ज्ञान मिलता है। मैं तो अव्यय और अव्यक्त हूँ। मुझे अलग-अलग देवों के रूप में प्रकट हुआ मानना ऊँची समझदारी नहीं। ईश्वर को जीवों के वर्तमान, भूत और भविष्य सब जन्मों का पता है। पर अनादि अनन्त ईश्वर को कौन जानता है?

जरा-मरण से छूटने के लिए ईश्वर को जानना ही एकमात्र साधन है। इसके लिए कई बातों को स्पष्ट अलग-अलग जानना चाहिए। वे छह बातें इस प्रकार हैं। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, और अधियज्ञ।

आठवाँ अध्याय अक्षर ब्रह्मयोग अर्जुन के छह प्रश्न

आठवें अध्याय का नाम अक्षर ब्रह्मयोग है। उसका आरम्भ इन्हीं छह प्रश्नों की जिज्ञासा से होता है। जैसे ही भगवान् ने इन छहों का उल्लेख किया वैसे ही अर्जुन के मन में यह स्वाभाविक इच्छा हुई कि इन छह तत्त्वों का स्वरूप और भेद जाना जाय।

ब्रह्म क्या ?

पहला प्रश्न ब्रह्म के विषय में है। उसका स्पष्ट उत्तर यही दिया गया है कि अक्षर ही परब्रह्म है। वेदों में और उपनिषदों में अक्षर तत्त्व का बहुधा उल्लेख आता है। गीता में भी कहा है कि सच्ची वेदविद्या अक्षर के ज्ञान की ही विद्या है (यमक्षरं वेदविदो वदन्ति, ८।११)।

सनातन चैतन्य तत्त्व की संज्ञा ही अक्षर है। वह परब्रह्म ईश्वर का ही स्वरूप है। उसी महान् सूर्य की एक-एक किरण एक-एक जीव है। सम्पूर्ण ब्रह्म की ज्योति का प्रतीक सूर्य है (ब्रह्म सूर्य समं योतिः यजु० वेद २३।४८)।

ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त वेदों का और कोई लक्ष्य नहीं है। ब्रह्म-विद्या ही वेद-विद्या है। यदि विस्तार में जायँ तो ब्रह्मसम्बन्धी विद्या का कोई अन्त नहीं है, वह सहस्रधा कहलाती है। उसके वर्णन के लिए अनगिनत शब्द चाहिए। किन्तु एक युक्ति ऐसी है कि केवल एक अक्षर से ही ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। वह अक्षर ओंकार है (ओं इत्येकाक्षरं ब्रह्म, ८।१३)। इस एक संक्षिप्त पद को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। यह कहने सुनने की बात नहीं, अनुभव में लाने की विद्या है।

अध्यात्म क्या ?

अर्जुन का दूसरा प्रश्न अध्यात्म के विषय में है। अध्यात्म की चर्चा बहुत बार आती है। पर वह अध्यात्म क्या है ? इसका उत्तर है कि स्वभाव ही अध्यात्म है (स्वभावोध्यात्ममुच्यते, ८।३)।

इसका तात्पर्य यह है कि जो अपना भाव अर्थात् प्रत्येक जीव की एक-एक शरीर में पृथक्-पृथक् सत्ता है वही अध्यात्म है। समस्त सृष्टिगत भावों की व्याख्या जब मनुष्य-शरीर के द्वारा की जाती है तो उसे ही अध्यात्म व्याख्या कहते हैं। शरीर में आया हुआ प्राण ही अध्यात्म का मुख्य लक्ष्य और आधार है। कह सकते हैं कि अधिभूत अधिदैव आदि सबमें अध्यात्म सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि अपना अस्तित्व न रहने से फिर मानव में कुछ शेष नहीं रहता। इसलिए मनुष्य को उचित है कि चारों ओर अपना ध्यान ले जाते हुए अध्यात्म की उपेक्षा न करे।

कर्म क्या ?

अर्जुन का तीसरा प्रश्न कर्म के सम्बन्ध में है कि कर्म क्या है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पंच भूतों को और बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के भावों को अस्तित्व में लाने वाली जो प्रक्रिया है वही कर्म है। कर्म की संज्ञा चेष्टा है। स्वयं अव्यक्त प्रकृति के अभ्यन्तर में इस प्रकार की चेष्टा का जो आविर्भाव होता है उसी से कर्म का निर्माण होता है यह कर्म समष्टि के धरातल पर और व्यष्टि के धरातल पर दो रूपों में देखा जाता है। दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

अधिभूत क्या ?

अर्जुन का चौथा प्रश्न अधिभूत के सम्बन्ध में है। इसका उत्तर सरल और स्पष्ट है कि पंच भूतों का जो संगठन है वही अधिभूत है। और उसे क्षर भी कहते हैं, क्योंकि उसका संस्थान और संगठन नश्वर है। भूतों का स्वभाव है कि वे कारण पाकर मिल जाते हैं और कारणवश ही कुपित होकर अलग हो जाते हैं। प्राणियों के शरीर में भूतों के संगठन और विघटन की यह क्रिया बराबर देखी जाती है। जीवन और मृत्यु इसी के वशवर्ती हैं। भूतों की संघटना के नियम से कितना सुन्दर बाल-शरीर प्राप्त होता है। किन्तु शनैः-शनैः उसकी सम्भावनायें क्षीण हो जाती हैं और अन्त में पाँचों भूत चेतना से विमुक्त हो जाते हैं।

अधिदैवत क्या ?

अर्जुन का पाँचवाँ प्रश्न अधिदैवत के विषय में है। अधिदैव और अधिदैवत एक ही शब्द के दो रूप हैं। समष्टिगत ब्रह्माण्ड में और पार्थिव जगत् में भी ईश्वर की जो दिव्य शक्तियाँ हैं उन्हें ही अधिदैवत कहते हैं। उन्हीं से इन्द्रियों का और मन का विकास होता है। वस्तुतः प्राणात्मक शक्ति को ही दैव कहते हैं। जहाँ प्राण है वहाँ देवों का निवास निश्चित है। इस शरीर में जब तक प्राण की सत्ता है तब तक इसे देवतत्त्व कहा जाता है। एक प्रकार से पंच भूत तो शरीर के साथ अन्त तक रहते ही हैं, केवल दैवी शक्ति और प्राण ही विमुक्त हो जाता है। वस्तुतः वेदों की समस्त विद्या एक मात्र देवविद्या ही है। इन देवों के अनेक नाम और रूप हैं, किन्तु मूल तत्त्व एक ही है जिससे एको देवः कहा गया है। उस एक देव को ही वैदिक परिभाषा में अग्नि कहते हैं। अग्निः सर्वाः देवताः, यह ऐतरेय ब्राह्मण का वचन है, अर्थात् जितने देव हैं वे सब अग्नि के ही रूप हैं। यह अग्नि तत्त्व प्राण की ही संज्ञा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत प्रकार से इसकी व्याख्या की गई है, जो अग्नि है वह प्राण ही है। इस प्रकार प्राण और अधिदैव ये परस्पर पर्यायवाची हैं और इनकी सत्ता जैसे ब्रह्माण्ड में है वैसे ही पिण्ड देह में है।

अधियज्ञ क्या ?

अर्जुन का छठाँ प्रश्न अधियज्ञ के विषय में है। यज्ञ दो हैं। इस विराट् सृष्टि में प्रजापति का महायज्ञ है, अथवा यों कहा जाय कि सारी सृष्टि ही यज्ञ रूप है। उसी विराट् यज्ञ के अनुसार मनुष्य-शरीर की रचना हुई है, जिसमें समस्त देवता और पंच महाभूत अपने-अपने प्रतिनिधियों के रूप में विद्यमान है। इस शरीर में जो प्राण या चेतना है उसका अत्यन्त रहस्यमय और गूढ़ कार्य हो रहा है। जिसे शरीर कहते हैं वह प्राण और भूत दोनों के मिलने से बनता है। इसी का नाम अधियज्ञ है।

इन छः प्रश्नों के रूप में प्राचीन वैदिक संकेतों की सुन्दर और स्पष्ट व्याख्या एक जगह पाई जाती है।

ओंकार रूप अक्षर ब्रह्म

इसी प्रसंग में अक्षर ब्रह्म का जो पहले प्रश्न का विषय है, कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अक्षर के दो अर्थ हैं। एक तो वह परब्रह्म का वाचक है और दूसरे वाणी के द्वारा जिन शब्दों का उच्चारण होता है, उनके न्यूनतम पद को भी अक्षर कहते हैं। शब्दमयी वाणी अक्षरों का समुदाय है। वह वाणी ही वाक् है। वह वाक् परब्रह्म के रूप में या शब्द-ब्रह्म के रूप में सहस्राक्षरा अर्थात् अनन्त अक्षरों वाली है। वहाँ किसी शब्दात्मक अक्षर का उच्चारण नहीं होता अतएव वह अमृत वाक् कही जाती है। वह वाक् का स्थित्यात्मक रूप है, वही एकपदी या अपदी वाक् है। उस एक पदी वाक् का प्रतीक ओंकार माना गया है, जैसा यहाँ कहा है—

ओमित्येकाक्षरं परब्रह्म (८।१३)

अक्षर विद्या की दृष्टि से ओंकार और अक्षर यह दोनों पर्याय माने गए हैं। जैसे ब्रह्म गुणातीत या निर्गुण और त्रिगुणात्मक भी है वैसे ही ओंकार की स्थिति है। उसे सम्मिलित रूप में अर्धमात्रात्मक कहा जाता है, और दूसरी ओर उसी में अ-उ-म् ये तीन मात्रायें भी मानी जाती हैं। उसका त्रिगुणात्मक रूप ही त्रिमात्रात्मक विषय है।

ग्यारहवें श्लोक में ओंकार को ब्रह्म का संक्षिप्त पद (संग्रह पद) कहा गया है। कठोपनिषद् में भी यह सिद्धान्त पाया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर इस प्रकार है—यह संसार पाँच तत्त्वों से बना है, उनमें आकाश सबसे सूक्ष्म है। ओंकार या अक्षर उसी आकाश के द्वारा वायु के आघात से उत्पन्न किया जाता है। उसकी वास्तविक भौतिक सत्ता उस कम्पन, स्पंदन या तरंगों के रूप में है जो शब्द से उत्पन्न होती हैं। यह ध्वनि नितान्त भौतिक तत्त्व है। अतएव पंच भूतों

से बना हुआ जितना भी जगत् है उसका एक सूक्ष्म नमूना ओंकार की ध्वनि को मान लिया गया है। यही ओंकार प्रत्येक व्यक्ति के कण्ठ से जब निकलता है तो उसका कम्पनात्मक स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। जैसे प्रत्येक शरीर में रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेदा और मल-मूत्र के उच्चारा अलग-अलग हैं, जिनकी परीक्षा से शरीर के आरोग्य और निर्दोष या सदोष स्वभाव का परिचय प्राप्त हो जाता है, वैसे ही कण्ठ से उच्चरित वाणी के द्वारा मनुष्य के शरीर की प्रकृति का ठीक परिचय प्राप्त हो सकता है। इसी रूप में प्रत्येक मनुष्य के कण्ठ से उच्चरित ओंकार वह संक्षिप्त पद है जो उसकी पांचभौतिक देह, पंचप्राण और पंचकोषों का सूक्ष्म और स्थूल परिचय देता है, जैसे शरीर की रचना में जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएँ हैं वैसे ही ओंकार में तीन मात्राएँ हैं। अ मात्रा जाग्रत, उ मात्रा स्वप्न और म् मात्रा सुषुप्ति की परिचायक है। इन तीनों के अनन्तर एक मात्रा-विहीन या अमात्र अवस्था है। उसे तुरीयावस्था कहते हैं। इस प्रकार यदि ब्रह्मा की सारी सृष्टि का और मनुष्य के शरीर का न्यूनतम नमूना लेना हो तो वह ओंकार के रूप में लिया जा सकता है।

अक्षर और क्षर, अव्यक्त और व्यक्त, अमात्र और त्रिमात्र, इन दो कोटियों की ओर ध्यान देते हुए, गीताकार ने इनके सम्बन्ध में विश्व के दो विभागों की ओर आकृष्ट किया है। यह द्वन्द्वरूप भाव ब्रह्मा का विधान है। इसके बिना संसार की रचना और प्रवृत्ति संभव नहीं। इसलिए इन्हें जगत् की शाश्वत गति कहा है। इनमें एक सफेद और दूसरी काली गति है। ये ही ऋग्वेद के शुक्ल रजस् और कृष्ण रजस् का ठीक उल्टा हैं। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, ये शुक्ल-गति के प्रतीक हैं। भूमि, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन, और चन्द्रमा, ये प्रकृति की काली गति या कृष्ण रजस् को प्रकट कर रहे हैं। दिन श्वेत और रात्रि अंधेरी क्यों है? उत्तरायण और दक्षिणायन में किस प्रकार का भेद है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न विश्व-रचना के सम्बन्ध में तुरन्त पूछे जा सकते हैं और उनका यथार्थ उत्तर ठीक यही है। संसार का मूल कारण जो गति तत्त्व है उसी के दो भेद हैं। यह

चक्रवत् गति है। वह जब एक ओर ऊँचे चढ़ती है और दूसरी ओर नीचे उत-रती है, तभी पहिया घूम सकता है। काल ही संसार को घुमाने वाला चक्र या पहिया है। उसी के दो अर्द्ध भाग अहोरात्र, दर्श-पौर्णमास, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायण आदि रूपों में हमारे सामने घूमते रहते हैं। इन्हीं दो गतियों की व्याख्या प्राचीन काल में अहोरात्र बाद कहलाती थी, उसी की ओर संकेत करते हुए आठवाँ अध्याय समाप्त होता है।

नवाँ अध्याय-राजविद्या

गीता के नवें अध्याय का नाम राज-विद्या राजगुह्य योग है। इसमें बताया है कि किस प्रकार ज्ञान और कर्म का सन्तुलन ही जीवनधारा है। भारत के धर्म तत्त्व और दर्शन का मुख्य लक्ष्य यही है। इसकी परम्परा वेद से लेकर कालान्तर में भी चली आई है। यह सब विद्याओं में श्रेष्ठ होने के कारण राज विद्या कही गई है। इसे ही सब अध्यात्म तत्त्वों में या उपनिषदों के ज्ञान में सर्वोपरि होने के कारण राजगुह्य भी कहा गया। यह एक ऐसा योग है जिसमें ज्ञान और विज्ञान अर्थात् व्यावहारिक लोक-जीवन और अध्यात्म-मार्ग दोनों का समन्वय होता है। यह धर्म-मार्ग अत्यन्त पवित्र कहा गया है, क्योंकि इसमें आत्मा का प्रकाश भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में भर जाता है और उसकी मलीनता को हटाकर उसमें पवित्रता भर देता है। इस मार्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहने-सुनने की बात नहीं है। इसे तो जीवन नें प्रत्यक्ष उतारा जाता है। जब तक यह ज्ञान जीवन में खरा न उतरे तब तक इसका कुछ मूल्य और लाभ नहीं है। इसके लिए गीताकार का प्रत्यक्षावगम शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है (९।२)। भारतीय विचारकों ने ज्ञान के दो भेद किये थे–एक शब्दब्रह्म अर्थात् शब्दों के रूप में शास्त्रों का महान् भण्डार; वह भी एक निधि है पर वह अपने में अपर्याप्त है। जब शास्त्र जीवन में आने लगता है तो उसे योग कहते हैं। अतएव आचार्यों ने स्पष्ट लिखा कि शास्त्रीय शब्दज्ञान में जो ब्रह्मा की भाँति ही पण्डित हो जाय तो भी उसका पद नीचा है और

योग के मार्ग में चलने का जिसने आरम्भ ही किया हो तो वह पहले की अपेक्षा ऊँचा पद रखता है (जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माति वर्तते (६।४४)। जीवन में जो ज्ञान को उधार बाँटता है उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। पर जो सीखे हुए ज्ञान को नगद कर लेता है, अर्थात् अनुभव में ले आता है वही उस ज्ञान का सच्चा धनी है। चाहे और सब शास्त्र कहने-सुनने के लिए ही हों पर अध्यात्मज्ञान तो अवश्य ही जीवन के अनुभव में लाने योग्य है। भगवान् ने तो और भी आगे बढ़कर यह आश्वासन-परक वाक्य कहा है कि सच्चे मन से यदि मनुष्य प्रयत्न करे तो इस मार्ग का आचरण सरल और सुखदायी है (सुसुखं कर्तुम् ९।२)। फिर धर्म युक्त होने के कारण यह ऐसी उपलब्धि है जो अव्यय है, अर्थात् छीजती नहीं। जो जितना प्राप्त कर ले उतना ही श्रेयस्कर है। मनुष्य को इस विश्वास के साथ इस मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। जो इस प्रकार की श्रद्धा से चलते हैं वे इस धर्म को प्राप्त कर लेते हैं (९।३)।

भगवान् का दिव्य स्वभाव

इसके अनन्तर भगवान् के उस स्वरूप और शक्ति की ओर ध्यान दिलाया गया है जिसके द्वारा वे सब में हैं और सबसे ऊपर भी हैं,अर्थात् आसक्ति और अनासक्ति एवं कर्म और ज्ञान के सम्मिलन का उदाहरण स्वयं ईश्वर की सत्ता है। उसे ऐश्वर योग कहा गया है (९।५)। इसे देखने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। वह सब भूतों में है, जैसे आकाश और वायु सर्वत्र है। मैं सब में रहते हुए भी सबसे उदासीन हूँ। कोई कर्म मुझे नहीं बाँधता। मेरी दैवी प्रकृति या ऐसे दिव्य स्वभाव को महान् या विकसित आत्मा वाले व्यक्ति पहचान लेते हैं और मेरे भक्त बन जाते हैं। मेरी सत्ता को पहचानने का एक दूसरा भी प्रकार है, उस दृष्टिकोण से एक ईश्वर को सब में विद्यमान देखा जाता है। उसका नाम ज्ञान योग है। मैं यज्ञ हूँ, मैं समिधा हूँ, मैं सोम हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मंत्र हूँ, मैं ही दुःख हूँ, और मैं ही

अग्नि और आहुति हूँ। इस संसार का पितामह, पिता-माता, धाता, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, सुहृद् मैं ही हूँ। ऋक्-यजु, साम और पवित्र ओंकार, सब ईश्वर के रूप हैं। सत् और असत्, अमृत और मृत सभी ईश्वर की सृष्टि हैं और वह स्वयं सबमें है। यह दृष्टि जिनको मिल जाती है वे अनन्यभाव से ईश्वर का चिन्तन करते हैं। ईश्वर के लिए न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय, वह सर्व भूतों में समान रूप से है। अतएव यदि कोई पापाचारी व्यक्ति भी अपने मन को पाप से मोड़ लेता है तो वह साधु बन जाता है। फिर उसे भी जीवन में शान्ति और सद्गति प्राप्त होती है।

दसवाँ अध्याय––विभूतियोग

लोक-देवता

ईश्वर चर्चा के प्रसंग में एक प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि जो लोग भगवान् को छोड़ कर दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं उनकी क्या गति होगी? लोक में बहुत से देवता हैं और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनके पूजने वाले भी अनेक हैं। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो उसके मन की रुचि है वह भी भगवान् के संकल्प का रूप है और उसके लिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण के लेखक ने 'रोचेश' इस नये शब्द का व्यवहार किया है। जिसकी जिस देवता में रुचि होती है अथवा जीवन की जिस किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है वही उसका 'रोचेश' है। विष्णुधर्मोत्तर अध्याय २२१ में इस प्रकार के लगभग १२५ देवताओं की सूची दी गई है। गीताकार के सामने भी यहाँ इस तरह का प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि लोक-देवता कौन-कौन से हैं? यह सामग्री कुछ अध्यात्म दृष्टि से महत्त्व की नहीं, किन्तु लोक-वार्त्ता शास्त्र के लिए महत्त्व की है।

पहले तो गीताकार ने भगवान् के मुख से एक सामान्य नियम कहलाया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (९।२५)

व्रत का अर्थ

इस श्लोक का 'व्रत' शब्द पारिभाषिक है और उसका अर्थ किसी देवता विशेष की भक्ति और पूजा से है। यहाँ यमन का भी वही विशेष अर्थ है, अर्थात् लोक में चालू रीति से देवताओं की पूजा करना।

व्रत शब्द के इस विशेष अर्थ के लिए सुत्तनिपात की निद्देस नामक टीका देखनी चाहिए। उसमें भिन्न-भिन्न देवताओं के व्रत या भक्ति द्वारा आत्म-शुद्धि बताने वाले २२ सम्प्रदायों का उल्लेख है। उनमें से प्रत्येक को व्रतिक कहा गया है। जैसे हस्तिक व्रतिक, अश्व व्रतिक, गो व्रतिक, कुक्कुर व्रतिक, काक व्रतिक, वासुदेव व्रतिक, बलदेव व्रतिक, पूर्णभद्र व्रतिक, मणिभद्र व्रतिक, अग्नि व्रतिक, नाग व्रतिक, सुपर्ण व्रतिक, यज्ञ व्रतिक, असुर व्रतिक, गन्धर्व व्रतिक, महाराज व्रतिक, चन्द्रमा व्रतिक, सूर्य व्रतिक, इन्द्र व्रतिक, ब्रह्मा व्रतिक, देव व्रतिक, दिशा व्रतिक। मिलिन्द पन्ह, पृष्ठ १९१ पर इसी प्रकार के कुछ लोक देवताओं की सूची है, उसकी सिंहली टीका में उन देवताओं को मानने वालों को भत्तियों, अर्थात् भक्त कहा गया है। व्रतिक और भक्तिक एक दूसरे के पर्याय हैं।

मह नामक लोकोत्सव

इस प्रकार की पूजा-मान्यता को लोक में मह कहा जाता था। 'नाया-धम्म कहा' नामक जैन ग्रन्थ में लिखा है कि राजगृह नगर में बड़े-बड़े लोग निम्नलिखित मह या देव-यात्रा में इकट्ठे होते थे। जैसे इन्द्र मह, स्कन्द मह, रुद्र मह, शिव मह, वैश्रवण मह, नाग मह, यक्ष मह, भूत मह, नदी मह, तड़ाग मह, वृक्ष मह, चैत्य मह, पर्वत मह, उद्यान मह, गिरि यात्रा मह (नायाधम्म कहा १।२५)। इसी तरह की एक दूसरी सूची रायप सेणिय (राज प्रश्नीय) सूत्र में भी पायी जाती है, जैसे इन्द्र मह, स्कन्द मह, रुद्र मह, मुकुन्द मह, शिव मह, वैश्रवण मह, नाग मह, यक्ष मह, भूत मह, स्तूप मह, चैत्य मह, वृक्ष मह, गिरि मह, दरी मह, अवट मह, नदी मह, सर मह, सागर मह (कण्डिका १४८)।

महाभारत में भी इस तरह के मह नामक देव-उत्सवों का उल्लेख मिलता है, जैसे—गिरि मह, (महा १४, ५९, १३)। रैवतक मह (आदि पर्व २११।२), ब्रह्ममह। महाभारत आदिपर्व १५२।१७, में इसे ही ब्रह्मा का समाज या विराट् ब्रह्म महोत्सव भी कहा गया है। इसी प्रकार काम मह, और धनुर् मह के नाम भी मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण में जिसे जनक का धनुष् यज्ञ कहा जाता है वह धनुर्मह का ही रूप था। इस सूची और संस्था को ध्यान में रखकर यदि हम गीता के १० वें अध्याय में वतायी हुई भगवान् की विभूतियों की सूची को देखें तो यह वात स्वयं समझ में आ जाती है कि गीताकार ने आधुनिक लोक-वार्त्ता या लोक का अध्ययन करने वाले पण्डितों की भाँति अपनी सामग्री का संकलन किया है। इस सूची को गीताकार ने विभूति का नाम दिया है और कुछ विस्तार से कहने की वात को भी स्वीकार किया है (विस्तरेण आत्मनो योगं विभूतिं च अनार्दन। भूयः कथय तृप्तिह श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् १०।१८)। गीता में इन देवताओं के नाम इस प्रकार हैं:—

लोक देवताओं की सूची

आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्रमा, वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, भूतों में चैतन्य, रुद्रों में शंकर, यक्षों में कुबेर, आठ वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु, पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में स्कन्द, सरोवरों में समुद्र, महर्षियों में भृगु, शब्दों में ओंकार, यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावरों में हिमालय, पेड़ों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल, घोड़ों में उच्चैः श्रवस्, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, गायों में कामधेनु, प्रजनन की शक्तियों में कामदेव, सर्पों में वासुकि, नागों में अनन्त, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा, बन्धन करने वालों में यम, दैत्यों में प्रह्लाद, संख्या करने वालों में काल, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड़, पवित्र करने वालों में पवन, शस्त्रधारियों में परशुराम, मछलियों

में मगरमच्छ, नदियों में गंगा, विद्याओं में अध्यात्म विद्या, अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व, छन्दों में गायत्री, सामगानों में बृहत् साम, महीनों में अगहन, ऋतुओं में वसन्त, वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, और कवियों में उशना कवि–ये मेरे ही रूप हैं। मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं। यह तो उस विस्तार का संक्षिप्त रूप मैंने तुम्हें बताया है।

इस प्रकार दसवें अध्याय में अधिकांशतः वे नाम जो पहले व्रत और महकी सूची में आये हैं सम्मिलित हैं। यहाँ अध्यात्म या धर्म की दृष्टि से भागवत आचार्यों का एक विशेष उद्देश्य स्पष्ट समझा जा सकता है, अर्थात् लोक-देवताओं की मान्यता को चोट पहुँचाये या उखाड़े बिना वे उन सबका सम्बन्ध विष्णु भगवान् या नारायण के साथ या एक ही ब्रह्म अव्यय ईश्वर तत्त्व के साथ जोड़ देते हैं। यह बड़ी उपलब्धि थी। इस युक्ति का परिणाम कुछ समय बीतने पर यह हुआ कि विष्णु या नारायण की पूजा सबसे ऊपर उभर आयी और लोक के छुट भइये देवता या तो भुला दिये गये या पिछड़ गये। बहुतों के रूप तो इतने धुंधले पड़ गये कि अब पहचाने भी नहीं जाते। जैसे स्कन्द की पूजा महाराष्ट्र में खंडोबा के रूप में बची है, उत्तर भारत में तो वह लुप्त ही हो गई। ऐसे ही कुबेर, वसु, पुण्यजन्म, आदि की पूजा का हाल है। इस प्रकार के लोक देवताओं में विश्वास गीता अथवा जैन और पालि-साहित्य से भी बहुत पहले से चला जाता था। अथर्व वेद के पापमोचन सूक्त में (११।६। १–२३) इस प्रकार के लगभग १०० देवताओं की सूची पाई जाती है। उसके ये नाम तो ऊपर की इन तीन सूचियों से मिलते हैं—इन्द्र, सूर्य, विष्णु, वरुण, गन्धर्व, चन्द्रमा, दिशः, पशु-पक्षी, रुद्र, यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदी, वैश्रवण, पितृ, यम, सप्तर्षि, सर्प, संवत्सर, चतुर् महाराजिक, भत, सर्वदेव आदि। इस प्रकार वैदिक युग से लेकर चली हुई यह देव-पूजा लोक की मान्यता में इतनी बस गयी थी कि वह जनता के मन से कभी पूरी तरह नहीं हटी। हमने अपने ग्रन्थ प्राचीन भारतीय लोक धर्म में यह दिखाया है कि इनमें से अनेक देवता आज भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित

रह गये हैं और उनकी पूजा-यात्राएं भी प्रचलित हैं। पर भागवतों के उस समन्वयात्मक दृष्टि का जिसका गीता के १०वें अध्याय में प्रतिपादन है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म में एक महान् ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता के प्रति आस्था ऊपर उभर आई और अन्य सब देवी देवता उसी में विलीन हो गये या उन्होंने अपने अनमेल अस्तित्व का उसी के हाथों समर्पण कर दिया।

ग्यारहवाँ अध्याय–विश्वरूपदर्शन

पुरुष और प्रकृति की अनेक संज्ञाएँ

गीता का विश्वरूप नामक ग्यारहवाँ अध्याय बहुत ही उदात्त एवं प्रभावोत्पादक शैली में लिखा गया है। यों तो संस्कृत-साहित्य में विश्व-रूप-दर्शन का वर्णन अनेक बार आया है, किन्तु जैसी ओजस्वी शैली गीता के इन ५५ श्लोकों में पाई जाती है वैसीअन्यत्र कहीं नहीं है। भगवान् के विराट् रूप की कल्पना का आरम्भ ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से होता है। वहाँ कहा है कि विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, मुख से इन्द्र–अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, मस्तक से द्युलोक, पैरों से पृथ्वी, कानों से दिशाएँ और उसी प्रकार दूसरे अंगों से भिन्न-भिन्न लोकों का निर्माण हुआ (ऋग्वेद १०।९०।१३-१४)। विराट् का अर्थ है, महिमा या समष्टि-गत विश्वात्मक रूप। इसके मूल में वैदिक सृष्टिविद्या की यह कल्पना है कि विश्व का निर्माण करने वाले प्रजापति के दो रूप हैं, एक अनिरुक्त, अपरि-मित, अमूर्त और अनन्त; दूसरा निरुक्त, परिमित, मूर्त और शान्त। पहला रूप अव्यक्त और दूसरा व्यक्त है। व्यक्त रूप में प्रकृति या प्रधान की सत्ता है। और अव्यक्त रूप में उससे ऊपर पुरुष की सत्ता है। पुरुष और प्रकृति के सम्मिलन से ही विश्व का निर्माण हुआ है।

इन्हीं दो तत्त्वों की और भी कई संज्ञाएँहैं, जैसे अनन्त पुरुष को सहस्र-शीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुष भी कहा गया है, जब कि प्राकृत जगत् केवल दशांगुल मात्र है। अव्यक्त, और व्यक्त का पारस्परिक सम्बन्ध

यह भी है कि पुरुष प्राकृत जगत् में व्याप्त रहकर भी उससे ऊपर है। दूसरे पुरुष अमृत और प्रकृति मर्त्य है। पुरुष को त्रिपात् और प्रकृति को उसकी उपेक्षा एकपात् कहा जाता है। पुरुष ऊर्ध्व और जगत् पुनःपद या इह कहलाता है। उसे ही अधः या अवर भी कहते हैं। पुरुष की सत्ता सबसे ऊपर होते हुए भी वह अपने ही भीतर से अपनी असामान्य शक्ति के द्वारा जिस विश्व को उत्पन्न करता है उसकी संज्ञा विराट् है। विश्व के निर्माण का और कोई हेतु नहीं, वैदिक शब्दों में वह पुरुष की माया या स्वधा शक्ति है। इसे ही पुराणों में क्रीड़ा या लीला कहा गया है।

विश्व या विराट्

विश्व की ही संज्ञा विराट् है जिसे वेदों में महिमा कहा है। 'एतावानस्य महिमा' अर्थात् इतना बड़ा जगत् जो स्थूल और सूक्ष्म रूपों में जाना जाता है वह सब पुरुष या ब्रह्म की महिमा है। वह महिमा ही विराट् प्रकृति है।

उस अनन्त पुरुष को संकेत से तत् और 'इस विश्व को इदं सर्वम्' कहा जाता है 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में तत् शब्द उसी परम पुरुष की ओर संकेत करता है। उस तत् संज्ञक ईश्वर तत्त्व से जिस महिमा या महत् या विश्व का जन्म होता है वही विराट् है--ततो विराडजायत। वैदिक सृष्टि विद्या के अनुसार तत् या ब्रह्म पुरुष सृष्टि का पिता है और महत् या विराट् उसकी माता है। इसी महत् ब्रह्म को गीता में योनि भी कहा है, अर्थात् यह विश्व को जन्म देने वाली माता है। इसमें स्वयंभू पिता के रूप में गर्भाधान करता है, और उससे अनेक प्रकार की मूर्तियों या रूपों का जन्म होता है (मम योनिर्महद् ब्रह्म)।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः॥
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता (१४-३-४)।

इस प्रकार ईश्वर अपने भीतर से जिस विराट् विश्व को जन्म देता है उसमें अपनी प्रचण्ड शक्ति की भरपूर मात्रा उंडेल देता है। वस्तुतः उसकी

जिन सीमित मात्राओं को लेकर पंचीकरण प्रक्रिया चलती है उन्हें तन्मात्रा कहते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, ये सब परम पुरुष ईश्वर की विश्व में आई हुई पाँच मात्राएँ हैं। इनसे ही जगत् के पंच भूतों का निर्माण हुआ है। और इन्हीं दसों को जानने और भोगने के लिए व्यक्ति के शरीर में दस इन्द्रियों का विकास हो जाता है। इस प्रकार विश्व में और शरीर में इन सभी तत्त्वों का एक शक्तिशाली गुट पैदा हुआ है और अपना काम कर रहा है। प्रत्येक प्राणी को भौतिक शक्ति का यह पुंज प्राप्त हुआ है, पर उसकी मात्रा सीमित है। इसलिए उससे कोई आश्चर्य नहीं होता और निर्बाध गति से चलने वाले रथ की भाँति इन बीस तत्त्वों से बना हुआ यह शरीर-चक्र चला जाता है। सच तो यह है कि इन्हीं बीसों के साथ मन, बुद्धि और अहंकार, इन तीन की शक्ति और जुड़ी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी या तेईस तत्त्वों का शरीरधारी पुतला विश्व रचना का एक सौम्य अंग बना हुआ है।

ईश्वर की प्रचंड शक्ति

किन्तु इस सौम्य रचना के पीछे ईश्वर की एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति छिपी हुई है जिसकी कल्पना से ही मनुष्य के होशहवास गुम हो जाते हैं। उसका कुछ रूप वायु के अंधड़-बवण्डरों में, धरती को डावाँडोल करने-वाले भूचालों में, आकाश को चीर डालने वाली बिजली की कड़क में, चन्द्रमा और सूर्य को भी छिपा देने वाले खग्रासों में, एवं खगोल मण्डल के धूमकेतु और उल्का रूपी अनेक उत्पातों में दिखाई पड़ता है। कुशल है कि ये घटनाएँ क्षणिक ही होती हैं। पर्वतों को उड़ा देने वाला, समुद्र के जलों को मथ देने वाला, वृक्षों और नदियों को उलट देनेवाला प्रभंजन वायु क्षण भर के लिए सामने आता है और फिर वहीं शान्त हो जाता है। भगवान् के इस सौम्य रूप की संज्ञा चतुर्भुजी रूप है। पर इनकी जो अनन्त शक्ति है उसे सहस्र-भुजी रूप कहा गया है।

मनुष्य की सीमित मात्राओं में वह शक्ति नहीं है कि विराट् रूप का दर्शन

कर सके। हमारे सीमित मस्तिष्क में विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान आने लगे तो अवश्य ही मस्तिष्क का विस्फोटन हो जायगा। इसी का प्रतीक है 'हुम्फट्'। हमारे नेत्र केवल थोड़ी-सी किरणों से ज्योति ग्रहण कर पाते हैं। यदि सूर्य की सहस्र या अनन्त किरणें इन नेत्रों में आने लगें तो ये चर्म-चक्षु अपनी सत्ता ही खो बैठेंगे। ऐसे ही कानों को कुछ गिनी हुई ध्वनि-तरंगें ही सुनाई पड़ती हैं, विश्व के महानाद को ग्रहण करने के लिये मानव की सुनने की शक्ति अति तुच्छ है। इसी प्रकार हमारी भूख केवल पाव भर अन्न स्वीकार करती है, पर विश्व में तो अन्न के पहाड़ लगे हुए हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य का स्वरूप सब ओर से अत्यन्त सीमित है और यही उसकी जीवन सत्ता का हेतु है। किन्तु मानव का मन बड़ा भारी यक्ष है। जो सम्भव नहीं है यह उसके साथ भी छेड़-छाड़ करना चाहता है। यही हालत अर्जुन की भी हुई।

जब कृष्ण ने बहुत तरह से अपनी विभूतियों का बखान किया तो अर्जुन के मन रूप यक्ष ने एक उत्कट-नाटक खेला। उसने कृष्ण से कहा कि आपने विस्तार से अपनी महत्ता का और प्राणियों के जन्म और विनाश का जो वर्णन किया यदि उसमें यथार्थता हो तो आपका वह ईश्वरी रूप मैं देखना चाहता हूँ। यदि आप ठीक समझें और उसे दिखा सकें और मैं उसे देख सकूँ तो हे योगेश्वर ! मुझे उसे दिखाइए।

दिव्य दृष्टि क्या ?

अर्जुन का इतना कहना था कि कृष्ण ने ईश्वर के आश्चर्यों का भण्डार उसके सामने खोल दिया। पर इतना अवश्य कहा कि तुम्हारा यह सीमित चर्मचक्षु इस आश्चर्यमय रूप को देखने में समर्थ नहीं है। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ। यह दिव्य चक्षु क्या है ? मनुष्य के भौतिक शरीर में मन ही देवता है, जैसा ऋग्वेद में कहा है—देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् (१।१६४।१८)। इसलिए मन की जो शक्ति है वही यह दिव्य चक्षु है। भगवान् ने अर्जुन के मन को अपनी महती मनःशक्ति से भीतर-बाहर से छा लिया।

विराट् रूप

तब अर्जुन के सामने वह ईश्वरी रूप प्रत्यक्ष आ गया जो सब आश्चर्यों का स्थान है, जो अनन्त है, जिसमें अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं, जिसमें सब देवता और सब लोक हैं। उसकी चमक देखकर उसे ऐसा जान पड़ा मानो एक सूर्य तो क्या सहस्रों सूर्यों की भी प्रभा उसके सामने कुछ नहीं है। अग्नि और बिजली के सामान्य तेज विचलित हो गए। न उस रूप का आदि था न अन्त। चन्द्रमा और सूर्य तो उसके छोटे-से नेत्र थे। समस्त त्रिलोकी उस सूर्य को देख कर भय खाने लगी। उस मुख की कराल डाढों को देखकर अर्जुन के मुख से निकल पड़ा—"महाराज, मेरे लिये संसार घूम रहा है। मेरी स्थिति ठीक नहीं है। आप का ही यह अत्यंत विराट् रूप हैं। ये कौरव और ये पाण्डव आपके मुख में चले जा रहे हैं। कुछ दाँतों के बीच में छिपे हुए हैं और उनके मस्तक चूर-चूर हो गए हैं। हे देव, इस उग्र रूप में आप कौन हैं? मैं यह जानना चाहता हूँ, क्योंकि मुझे आपके इस स्वरूप का पहले पता नहीं था।"

भगवान् ने अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह एक शाश्वत उत्तर है—"मैं काल हूँ। लोकों का क्षय करने वाला हूँ। लोकों का संहार करने के लिये आज रणभूमि में आया हूँ। युद्धभूमि में इकट्ठा हुए इन राजाओं को मैं पहले ही मार चुका हूँ। तुम केवल निमित्त बन जाओ।"

इस स्थिति में अर्जुन को कँपकँपी आ गई। वह हाथ जोड़ कर बारंबार प्रणाम करने लगा। डर से उसकी घिग्घी बँध गई। और तब उसने उस विराट् रूप की पुनः स्तुति करते हुए अपनी धृष्टता के लिए बार-बार क्षमा माँगी—"हे देव, आपको मैं ठीक प्रकार नहीं समझ सका। अत्यन्त निकट होने के कारण कभी प्रमाद से और कभी स्नेह से मैंने आपको कृष्ण यादव या सखा कह कर पुकारा है। और, इससे भी अधिक भोजन के समय, विहार के समय या सोते समय हँसी में आपका अपमान भी किया है। उस सबके लिये आज क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि मैंने कभी नहीं जाना था कि

आप का स्वरूप इतना अधिक प्रभावशाली है। पिता जैसे पुत्र को, मित्र जैसे मित्र को, प्रियतम जैसे अपने प्रिया को क्षमा करता है वैसे ही आप मुझे क्षमा कीजिए। मेरा मन घबरा गया है, अतएव आप फिर वही अपना चतुर्भुजी सौम्य रूप दिखाइए।"

इसके बाद भगवान् ने अर्जुन के व्याकुल मन को ठीक करने के लिए आश्वासन के कुछ शब्द कहे—"हे अर्जुन! मैंने तो अपनी प्रसन्नता से तुझे यह रूप दिखाया। इससे पहले और किसी ने मुझे इस तरह नहीं देखा था। चाहे जितना वेद पढ़ो, यज्ञ करो, स्वाध्याय करो, दान दो और तप करो, उन सबसे मेरे इस विराट् रूप को देखना सम्भव नहीं। मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम डरो या घबराओ मत। अच्छा, अब इस काण्ड को समाप्त समझो और फिर मेरा वही सौम्य रूप देखो।" इतना कहकर महात्मा कृष्ण फिर अपने उसी सौम्य रूप में आ गए और उन्होंने डरे हुए अर्जुन को ढाढ़स दिया। अर्जुन ने कहा—"आपका यह सौम्य मानुषी रूप देखकर मेरा चित्त पुनः स्थिर हो गया है।" भगवान् ने अन्तिम रूप से अर्जुन को पुनः समझाया—"हे अर्जुन! केवल असाधारण भक्ति से ही मेरे इस परम रूप का ज्ञान और दर्शन मिल सकता है। इसलिए मेरे भक्त बनो। मुझे ही परम देव समझो। मेरे लिये ही कर्म करो। और, सब प्राणियों में द्रोह का त्याग करो।"

बारहवाँ अध्याय—भक्तियोग

भक्ति-योग नामक बारहवें अध्याय में अर्जुन ने भक्तों के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि सगुण भगवान् या ईश्वर की पूजा करने वाले और अव्यक्त अक्षर तत्त्व की पूजा करने वाले, इन दो प्रकार के भक्तों में कौन श्रेष्ठ है।

सगुण-निर्गुण पूजा

इस प्रश्न का उत्तर उतने ही निश्चित शब्दों में दिया गया है, अर्थात् जो साक्षात् सगुण ईश्वर में मन लगाकर उसकी उपासना करते हैं और

जिनके मन में श्रद्धा है वे उत्तम हैं। अव्यक्त की उपासना या ध्यान सबके लिये सुलभ नहीं, वह कठिनाई से ही हो पाता है। और फिर, अव्यक्त और व्यक्त के पचड़े में पड़ना उचित नहीं। क्योंकि निराकार की उपासना का फल भी वही है जो सगुण भगवान् की उपासना का है।

भक्ति का लक्षण

अब भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा कि भक्त को चाहिए अपने सब कर्मों का अर्पण भगवान् को कर दे और भगवान् का ही ध्यान करे। मन, चित्त और बुद्धि इन तीनों को यदि ईश्वर में ठहरा दिया जाय तो मनुष्य के लिए भगवान् ही उसका निवास-स्थान बन जाता है।

भक्ति-साधना के कई मार्ग

इसके बाद साधना की कई सीढ़ियों का वर्णन किया गया है। उनमें पहली सीढ़ी यह है कि यदि ईश्वर में चित्त स्थिर न होता हो तो उसे स्थिर करने के लिए अभ्यास करना चाहिए। उससे ईश्वर की प्राप्ति संभव है। यदि कोई चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास भी न कर सके तो दूसरा उपाय यह है कि जो कुछ कर्म मनुष्य करे उसे ईश्वर पर छोड़ दे। ईश्वर को अपना कर्म सौंप देने से सिद्धि की प्राप्ति संभव है।

यदि यह भी न बन पड़े और ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा बनी ही रहे तो जो कुछ कर्म किए जाते हैं उनके फल का त्याग करना सीखना चाहिए। अभ्यास से उत्तम ईश्वर का मन में ध्यान या प्रत्यक्ष दर्शन है। ज्ञान से बढ़कर भक्ति-पूर्वक ध्यान है, और ध्यान से कर्मफल का त्याग उच्च है। कर्म-फल के त्याग से शान्ति मिलती है।

यहाँ ऐसा विदित होता है कि ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, और कर्म-फलत्याग ये चार उपाय हैं, जिनमें से अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार किसी का भी अवलम्बन लिया जा सकता है। गीता की जो समन्वयात्मक दृष्टि है उसके अनुसार एक मार्ग की निन्दा और दूसरे मार्ग की प्रशंसा गीता को इष्ट नहीं।

भक्त के लक्षण

इसके अनन्तर भक्त के लक्षण बताए गए हैं। भगवान् का जो भक्त होता है, वही उन्हें प्रिय है। ऐसा व्यक्ति किसी प्राणी से बैर नहीं करता। वह सब के प्रति मैत्री की भावना रखता है। उसके मन में करुणा या दया की भावना रहती है। वह अपने या पराये के साथ ममता या द्वेष नहीं रखता। उसमें अहंकार का भाव नहीं होता। दुःख और सुख में उसकी एक समान चित्त-वृत्ति रहती है। वह क्षमाशील रहता है। वह अपनी आत्मा को संयम में रखता है। उसका निश्चय दृढ़ होता है। वह अपने मन और बुद्धि को ईश्वर में अर्पित कर देता है। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी हो वह समाज के लिए बड़ी निधि है। वह प्रकाश का केन्द्र होता है और अपने जीवन से दूसरों के कष्ट को दूर करता है। ऐसा ही विशिष्ट चरित्रवान् व्यक्ति ईश्वर को प्रिय है। वह लोक से भागता या घबराता नहीं। लोक-संघर्ष के बीच रह कर ही जीवन की सफलता ढूंढ़ता है। ऐसे व्यक्ति को पाकर लोक उसकी ओर खिंच आता है। जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित होता है वही ईश्वर को प्रिय है।

इसके अतिरिक्त और भी भक्त के लक्षण कहे गए हैं। जैसे वह किसी वस्तु को अपने लिए नहीं चाहता। वह मन, कर्म और व्यवहार से शुचि एवं शुद्ध होता है। वह कर्म करने में चतुर होता है। वह उदासीन या निर्लेप होता है। उसे व्यथा नहीं होती। वह किसी भी प्रकार से लड़ाई-झगड़े में नहीं पड़ता। हर्ष और द्वेष, शोक और इच्छा, शुभ और अशुभ इन बातों से वह ऊपर रहता है। शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दुःख इन द्वन्द्वों के बीच में वह एक समान रहता है। उसके लिए निन्दा और स्तुति एक जैसी हैं। वह प्रायः मौन रहता है। उसे जो कुछ मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह अपने लिए बड़ा घर या महल नहीं बनाता। उसकी बुद्धि जिस काम को लेती है उसमें स्थिर रहती है।

इस प्रकार जो यहाँ भक्त के चालीस लक्षण बताए गए हैं वे सब वही हैं जो एक परिपूर्ण मानव के लिए आवश्यक है। मनुष्य की पूर्णता के लिए इनके अतिरिक्त फिर कुछ रह ही नहीं जाता। दूसरे अध्याय में स्थितधी पुरुष के जो लक्षण कहे हैं वे लगभग यही हैं। गुणों के आधान का यह एक नया सिद्धान्त भागवत आचार्यों ने बताया था। श्रीमद्भागवत के अनुसार स्वयं विष्णु भगवान् गुणों के महापात्र हैं। गुणों को रखने के लिए उससे बड़ा बर्तन दूसरा नहीं है। भागवत ने भी चरित्र के उन्तालीस गुणों की एक सूची दी है जो इस प्रकार है—

सत्य, शौच, दया, शान्ति, त्याग, सन्तोष, आर्जव (स्वभाव की सिधाई), श्रम, दम, तप, साम्य, तितिक्षा, उपरति, श्रुति, ज्ञान, विरक्ति, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातन्त्र्य, कौशल, शान्ति, धैर्य, मार्दव, प्रागल्भ्य, शील, प्रश्रय, सह, ओज, बल, भग, गांभीर्य, स्थैर्य, आस्तिकता, कीर्ति, मान, अहंकार (भागवत १।१७।२६–२८)।

ये भगवान् के महागुण हैं। जो मनुष्य अपना महत्त्व चाहे उसे इन्हें धारण करना चाहिए। भगवान् विष्णु स्वयं इन गुणों के पात्र हैं। इस प्रकार स्पष्ट बात यह है कि बिना गुणों को धारण किये हुए कोई भी धर्म का मार्ग पकड़ में नहीं आता। गीता का यह दृष्टिकोण प्रज्ञा-दर्शन के अंगरूप है।

तेरहवां अध्याय—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार

तेरहवें अध्याय का नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग है। इस अध्याय से गीता एक ऐसे क्षेत्र में उतरती है जहाँ प्राचीन वैदिक परिभाषाओं की भरमार है। उदाहरण के लिये तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार है। चौदहवें में तीन गुणों का विचार है। पन्द्रहवें में क्षर और अक्षर और अव्यय इन तीन पुरुषों का विचार है। सोलहवें में दैव और आसुरी इन दो प्रकार की सृष्टियों का विचार है। सत्रहवें में तीन प्रकार की श्रद्धाओं की व्याख्या की गई है। अठारहवें अध्याय में पुनः

कई मिश्रित परिभाषाओं पर ध्यान दिया गया है। अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से गीता के इन छह अध्यायों का पर्याप्त महत्त्व है। इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गीताकार के विचारों का मूल स्रोत सांख्य तत्त्व दर्शन और वेदों के साथ मिला हुआ था। ऐसा स्वाभाविक है कि क्योंकि गीता जैसा विशिष्ट शास्त्र स्वल्पकालिक चिन्तन का परिणाम नहीं। इसके पीछे भारतीय धर्म और दर्शन की लम्बी परम्परा थी। इसीलिए तो किसी विचारशील व्यक्ति ने गीता के दूध को उपनिषद् रूपी गायों से दुहा कहा है, जैसा हम पहले कह चुके हैं। उपनिषद् का अर्थ वेदों और ब्राह्मणों की अनन्त प्राचीन परम्परा से ही था।

तेरहवें अध्याय की नेपाल, काश्मीर और वंग देश की प्रतियों में प्रायः यह श्लोक अधिक मिलता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च,

एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव (बेल्वेल्कर, १३।२)।

दक्षिणात्य प्रतियों में यह श्लोक प्रायः नहीं है। कहीं कहीं यह बारहवें अध्याय के अन्त में मिलता है। शांकर भाष्य में भी यह नहीं है। किन्तु श्लोक के मिलने या न मिलने से कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि तेरहवें अध्याय का जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी विषय है वही इस श्लोक में दुहराया गया है। पुराणों की स्पष्ट परिभाषा के अनुसार क्षेत्रज्ञ संज्ञा पुरुष या परमेश्वर की है और क्षेत्र संज्ञा प्रकृति की है।

क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विचार की प्राचीनता

यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्वन्धी यह विचार कुछ नया न था। हमें ऋग्वेद में सर्वप्रथम इन शब्दों का परिचय मिलता है।

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।

एतद्वै भद्रमनशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥

(ऋ० १०।३२।७)

यहां स्पष्ट कहा है कि जो क्षेत्र को नहीं जानता वह क्षेत्रविद् या क्षेत्रज्ञ से उसके विषय में प्रश्न करता है। क्षेत्रज्ञ उसे जो उपदेश देता है उसे प्राप्त करके वह प्रसन्न होता है। इस विषय के अनुशासन या उपदेश में इतना कल्याण भरा हुआ है कि जिसे उपदेश दिया जाता है वह शीघ्र ही ठीक मार्ग प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र के क्षेत्रविद् और अक्षेत्रविद् शब्द अध्यात्मशास्त्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। कालान्तर में उसी विद्या की परम्परा चलती रही। ऋग्वेद ५।४०।५ में भी अक्षेत्रविद् शब्द आया है और वहाँ क्षेत्र का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति को मुग्ध अर्थात् मूढ़ कहा गया है। इसी से निकला हुआ अक्षेत्रज्ञ शब्द पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दिया है, जिससे भाववाचक शब्द अक्षेत्रज्ञ्य बनता था (अष्टाध्यायी, ६।३।३०)। ७।३।३० सूत्र में क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग दिया है, 'जिससे उसका उलटा अक्षेत्रज्ञ शब्द बनता था और उसी का भाववाचक रूप अक्षैत्रज्ञ्य था।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार बहुत प्राचीन था इस बात को स्वयं गीताकार ने भी स्पष्ट रीति से कहा है। उन्होंने स्वीकार किया है कि अनेक ऋषि वैदिक मन्त्रों में इस प्रकार के विचार प्रकट करते रहे और उसके बाद ब्रह्म-सूत्र में भी इसी तरह की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विद्या का प्रतिपादन हुआ।

अतएव गीताकार का स्वाभाविक अभिप्राय यह है कि गीता में भी यह विषय वहीं से लिया गया था।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी विद्या का बहुत विस्तार था और पुराणों में बार-बार इसका उल्लेख किया गया है। उसका संक्षिप्त और सार-गर्भित परिचय गीता में केवल एक श्लोक में बता दिया है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥ (१३।५)

किन्तु इससे पहले कि हम गीता के इस श्लोक की व्याख्या करें यह आवश्यक है कि वेदान्त-शास्त्र के ब्रह्म-सूत्रों में जिसका प्रमाण गीता ने दिया है, जो यह विषय है, उसका भी कुछ परिचय दे दें।

ब्रह्मसूत्रों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार

ब्रह्म-सूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पहले तेरह सूत्रों में पाँच महाभूतों पर विचार किया गया है, कि किस प्रकार सूक्ष्म से स्थल रूप में उनका विकास होता है। चौदहवें सूत्र में प्रलय या प्रतिसंचर काल में जिस प्रकार वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए एक दूसरे में लीन होते जाते हैं उसका संकेत किया गया है। उसे वे विपर्यय कहा है। फिर पन्द्रहवें सूत्र में विज्ञान अथवा बुद्धि और मन इन दोनों की उत्पत्ति का उल्लेख है। फिर सोलहवें सूत्र के अन्तिम तिरपनवें सूत्र तक जीव और ईश्वर तत्त्व का विचार है। इस प्रकार ब्रह्म-सूत्रों के इस पाद में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विषय प्रतिपादित हुआ है। इस पर वाद के दार्शनिकों ने तर्क और वितर्क के द्वारा विस्तृत उहापोह किया है जो अनुसंधान का पृथक् विषय है।

गीता में क्षेत्र का विचार

अब गीता के क्षेत्र-स्वरूप पर विचार करना चाहिए। गीताकार ने ऊपर लिखे पाँचवें श्लोक में जिस तरह तत्त्वों का परिगणन किया है वह इतना सरल और स्पष्ट है कि उसे देखकर आश्चर्यमय आनन्द होता है। गीताकार ने जो तत्त्व गिनाए हैं वे सांख्य शास्त्र के तेईस तत्त्व हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।

(१३।५–६)

क्षेत्र के इस स्वरूप को बहुत स्पष्टता से एक बार समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह भारतीय दर्शन का निचोड़ है और वेद, वेदान्त, सांख्य, एवं अनेक पुराणों में इसे बार-बार दुहराया गया है। और, कई बार तो नई-नई संज्ञाओं का भी प्रयोग हुआ है। गीता में इसे ही अपरा प्रकृति भी कहा है। यह क्षेत्र प्रकृति की संज्ञा है। इससे जो ऊपर क्षेत्रज्ञ है वह

पुरुष है। पुराणों में क्षेत्र को अण्ड-सृष्टि कहा है और उस अण्ड को बारम्बार प्राकृत अण्ड कहा है। इस प्राकृत अण्ड के मूलभूत सात आवरण हैं, जैसे महत् '२. अहंकार, और ३-७ पाँच तन्मात्राएं।
इन सातों से २३ तत्वों का विकास इस प्रकार हो जाता है—

१. महत् (जिसे बुद्धि भी कहते हैं)।

२. मन (स्थिर विज्ञान की संज्ञा बद्धि और चंचल विज्ञान की संज्ञा मन है)।

३. अहंकार

४–८. पाँच तन्मात्राएँ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध)।

९–१३. पाँच कर्मेन्द्रियाँ

१४–१८. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

१९–२३. पाँच महाभूत

इन तेइस तत्त्वों के समूह को त्रयोविंशक कहा जाता है। इन्हीं में अव्यक्त (जिसे प्रधान या प्रकृति) जोड़ देने से तत्त्वों का चतुर्विंशक गण बन जाता है। यही गीता के श्लोक में तत्त्वों की गिनती है। इन २३ जड़ तत्त्वों के मिलने से जो पुतला बनता है वही अपरा प्रकृति है। अपने आप में यह जड़, चेतना शून्य और चेष्टाहीन है। जब पुरुष से इसका संयोग होता है, तब इसमें चेष्टा या प्राण का प्रवेश हो जाता है। उसी की संज्ञा जीव है और उसे ही दार्शनिक भाषा में परा प्रकृति कहते हैं। वह ईश्वरका अंश माना जाता है। जीव को लक्ष्य में रखकर यहाँ कुछ गुण कहे गये हैं, जैसे इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, संघात-वृत्ति और चेतना। ये सब जीव के लक्षण हैं। संघात का एक अर्थ मृत्यु ही है, जो जीव के शरीर में प्रवेश करने और निकल जाने से ही संभव होती है। धृति जीव का स्वाभाविक गुण है, क्योंकि वही भूतों को धारण करने वाला है और स्वयं पंचभूतों के समुदाय रूपी शरीर या कूट पर स्थित रहता है। अक्षर, प्राण या जीव ही भूतों की सच्ची विधृति है, उसी के बल से पंचभूत इकट्ठे बने रहते हैं। जीव के हटते ही भूत बिखर जाते हैं। उस जीव का स्वरूप चेतना है, जैसा देवी-माहात्म्य में कहा है—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते (देवीमाहात्म्य, ५।१३)।
यह चेतना विष्णु की माया या शक्ति कही गयी है। दूसरे शब्दों में यही पुरुष तत्त्व का चिदंश या प्राणांश है। इसे ही हिरण्यगर्भ, हंस, ब्रह्मा, संवित् आदि कितने ही नामों से भारतीय धर्म में कहा गया है।

इस प्रकार अपरा प्रकृति अर्थात् भौतिक शरीर और उसमें रहने वाला जीव इन दोनों की सम्मिलित संज्ञा क्षेत्र है। यह स्मरणीय है कि इसी क्षेत्र में पंच भूतों के अलावा मन और बुद्धि का भी निवास है। किन्तु वे दोनों भी जड़ और प्राकृत हैं। उनके अतिरिक्त चैतन्य तत्त्व जीव है, यदि जीव न हो तो बुद्धि और मन का सूक्ष्म व्यापार नहीं चल सकता।

गीताकार ने पाँचवें श्लोक में अव्यक्त को भी एक तत्त्व माना है और उनको क्षेत्र की परिभाषा में गिना है। वस्तुतः प्रधान या प्रकृति की संज्ञा ही अव्यक्त है। सात आवरणों के रूप में विकसित होने से पहले प्रकृति की जो अमूर्त्त अवस्था है, उस के लिए ही अव्यक्त शब्द है। उसे कभी कभी अलग तत्त्व ही मान लेते हैं और तब मन को अलग न गिन कर अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार के साथ महाभूतादि २० तत्त्वों को जोड़ कर तेईस तत्त्व माने जाते हैं। उनके लिए पुराणों में त्रयोविंशक संज्ञा का प्रयोग पाया जाता है। इसी के साथ २४वाँ जीव मिलकर चतुर्विंशक तत्त्व हो जाते हैं। उसी में पचीसवाँ ईश्वर भी मिला दिया जाय तो उनकी संख्या पंचविंशक हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वों की गिनती के आधार पर सांख्य शास्त्र में कई संज्ञाएँ पाई जाती हैं। ये नाम पुराणों में आये हैं और विषय को स्पष्ट करने के लिये छोटे-छोटे शीर्षकों का काम देते हैं। कहा भी है—सांख्यं संख्यात्मकत्वात्, अर्थात् जिस शास्त्र में तत्वों का विश्लेषण करके उनकी गिनती कर ली गई हो उसका नाम सांख्य शास्त्र है।

प्रकृति के सात अवयव और तीन गुण

ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्धि, अहंकार और पंच तन्मात्राओं का सप्तक प्राकृत है, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होता है। किन्तु प्रकृति को तो

तीन गुणों वाली माना गया है। प्रश्न होता है कि उन तीन गुणों के साथ इन सात तत्वों का क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर नितान्त स्पष्ट रीति से पुराणों में दिया है, वह इस प्रकार है—बुद्धि का सम्बन्ध सत्व गुण से है, अहंकार का रजोगुण से और पंचतन्मात्राओं या पंचमहाभूतों या तमोगुण से। इन्हीं के लिये पुराणों में तीन शब्द और आये हैं—वैकारिक, तैजस और तामस। यहाँ वैकारिक का अभिप्राय है बुद्धि या मन, तैजस का अभिप्राय है प्राण, और तामस का अभिप्राय है पंच महाभूत। इसी को तालिका रूप में यों कह सकते हैं।

१. सत्त्व गुण—वैकारिक—बुद्धि या मन

२. रजो गुण—तैजस—प्राण—अहंकार

३. तमो गुण—तामस—पंचमहाभूत या जिन्हें 'विशेष' भी कहते हैं।

बुद्धि का नाम महत् है। चैतन्य पुरुष के भीतर सृष्टि की कामना का उदय, यही बुद्धि तत्त्व या महत् तत्त्व है। प्रजापति की बुद्धि में समस्त सृष्टि का अन्तर्भाव है। बुद्धि के जन्म के साथ ही सृष्टि का जन्म हो जाता है। यह सतोमयी स्थिति है। इसे व्यक्त या प्रकट रूप में लाने के लिए चेष्टा, क्रिया या रजोगुण की आवश्यकता है। रजोगुण के व्यापार या क्रिया के साथ ही पंचभूत या तामसी सृष्टि बनने लगती हैं। इसे तामसी इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें चेतना को ढक लेने या आवरण कर लेने का गुण है।

अब प्रश्न यह है कि एक ओर प्रकृति का आवरण या तमोगुण है और दूसरी ओर जीव का रजोगुण है। इन दोनों में जन्म भर रस्साकशी हुआ करती है। जीव प्रकृति का अधिकार चाहता है और प्रकृति जीव को अपनी मुट्ठी में रखना चाहती है। इसी कशमकश के कारण इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इन भावों का जीव को अनुभव करना पड़ता है। उसकी विलक्षण स्थिति होती है। प्रकृति के भोग या पंच विषय जब जीव को नहीं मिलते तो दुःख जान पड़ता है, और जब मिल जाते हैं तो पहले सुख पर पीछे दुःख होता है। क्षणिक बुद्धि से जीव उन्हें पाकर सुख मानता है। यह सुख दो प्रकार का

है, एक बाहरी और दूसरा भीतरी। बाहरी सुख तो विषय के स्पर्श से इन्द्रियों को मिलता है, क्योंकि हर एक विषय को भोग करने वाली एक-एक इन्द्रिय प्रकृति की रचना से इस शरीर में विद्यमान है। दूसरा भीतरी सुख अन्तःकरण को प्राप्त होता है। करण का अर्थ है इंद्रिय और अन्तः-करण का अर्थ है भीतर की इन्द्रिय। वस्तुतः यह अन्तःकरण मन ही है। उसे ही भोगों का सुख मिलता है। इन्द्रियों के भोग तो थोड़ी ही देर के बाद चले जाते हैं, किन्तु मन में अपना संस्कार छोड़ जाते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों मन के ही भेद हैं। और इन्हें अहंकार चतुष्टय भी कहा जाता है।

ज्ञान और अज्ञान का विवेचन

इस प्रकार क्षेत्र अर्थात् शरीर और जीव इन दोनों का पारस्परिक द्वन्द्व जब सामने आया तब गीताकार के लिए यह बताना आवश्यक हुआ कि ऐसी कौन सी चित्त-वृत्ति या रहन-सहन है जिसके द्वारा इन्द्रियों के विषय जीव के ऊपर अपना अधिकार न जमाने पावें। इसी दैवी शक्ति से परिपूर्ण या उत्तम विचारों से भरी हुई रहन-सहन को गीताकार ने पाँच श्लोकों में (१३।७–११) बताया है।

उनका कहना है कि ये सद्गुण ज्ञान का रूप है और इसके विपरीत जो जीवन है वह अज्ञान है।

ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

१. मान या अहंकार का न होना, २. दम्भ या पाखण्ड का न होना ३. अहिंसा, ४. शान्ति या क्षमा, ५. आर्जव या हृदय का सीधापन या कुटिलता का अभाव, ६. आचार्य या गुरुजनों के प्रति उपासना या आदर का भाव, ७. शौच, ८. पवित्रता, ९. स्थिरता या दृढ़ता, १०. इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, ११. अनहंकार अर्थात् अपने बड़प्पन का मद न होना, १२. जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, भोग और दुःख इनमें जो दोष हैं उनको भली प्रकार समझना, १३. अनासक्ति, १४. पुत्र, स्त्री, घर आदि में बहुत ममता

का न होना, अर्थात् इन सबके साथ रहना किन्तु उनमें लिपटना नहीं, १५. इष्ट और अनिष्ट चाहे जैसी घटना घटित हो उसमें अपने चित्त को सम भाव में रखना, १६. ईश्वर की अनन्य भक्ति, १७. एकान्त स्थान में रहना, भीड़-भड़क्के से अपने को अलग रखना, १६. आत्म-सम्वन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिये सदा प्रयत्न करना, २०. तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए रुचि रखना। इन इक्कीस प्रकार के आचार या वृत्तियों को ज्ञान कहते हैं। यह संख्या केवल संकेत मात्र हैं। इसमें और भी अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्य घटा-बढ़ा सकता है, क्योंकि ज्ञान तो एक विशेष प्रकार के रहन-सहन का नाम है। वह जब मनुष्य में आने लगती है, तो बहुत से सद्‌गुण अपने भीतर उत्पन्न हो जाते हैं। इसका फल यह होता है कि प्रकृति के विषयों का मनुष्य के मन पर जो धावा है, वह कमजोर पड़ जाता है। और विषयों के प्रति इन्द्रियोंका जो खिंचाव है, वह भी वैराग्य से हट जाता है। सच पूछा जाय तो सारे दर्शन का निचोड़ 'इन्द्रियसंयम' ही है।

क्षेत्रज्ञ पुरुष

इस प्रकार क्षेत्र या प्रकृति के विषय में प्रकृति से ऊपर उठने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन करके गीताकार ने क्षेत्रज्ञ पुरुष के विषय का संक्षेप में वर्णन किया है कि वह पुरुष ही वस्तुतः ज्ञेय-तत्त्व या जानने योग्य है। प्रकृति को जानने का फल मृत्यु ही है, किन्तु पुरुष को जानने का फल अमृत है। उस तत्त्व को अनादि परब्रह्म कहते हैं। वह सत् और असत् इन परस्पर विरुद्ध कोटियों से ऊपर है। उसे चाहे निर्गुण कहें या गुणों का भोक्ता, वह असत् भी है और सबके भीतर भी है। उसमें सब इन्द्रियों के गुण है और किसी भी इन्द्रिय का गुण नहीं है। वह भूतों के भीतर और बाहर व्याप्त है, वह चर और अचर दोनों हैं, वह दूर भी है और निकट भी है, वह इतना सूक्ष्म है कि जाना नहीं जा सकता। वह प्राणरूप है। अतएव उसके सिर, मुंह, आँखें, हाथ, और कान, पैर सर्वत्र हैं, क्योंकि वह भौतिक देह से परिछिन्न नहीं है, वह सब भूतों में एक अविभक्त तत्त्व है और

भूतों के रूप में अलग-अलग बँटा हुआ है। वह सबको ग्रसनेवाला और सबके ऊपर रहनेवाला तत्त्व है। ज्योतियों की ज्योति और अन्धकार से ऊपर तत्त्व वही है, ज्ञान और ज्ञेय उसी को कहना चाहिये और वही सबके हृदय या भीतरी केन्द्र में स्थित है। इस प्रकार गीताकार ने क्षेत्र अर्थात् प्राकृत शरीर और क्षेत्रज्ञ या पुरुष इन दोनों का स्पष्ट वर्णन किया है।

गीताकार पुरुष और प्रकृति इन दोनों को अनादि तत्त्व मानते हैं। किंतु जितने त्रिगुणमय विकार हैं वे सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। कर्ता, करण और कार्य यह विभाग भी प्रकृति के कारण ही होते हैं। किन्तु सुख और दुःख इनका भोग करने वाला पुरुष है, जो प्रकृति के धरातल पर उतरकर प्राकृत गुणों का भोग करता है और जिस-जिस गुण का आश्रय लेता है, उस उसके अनुसार अच्छी और बुरी चीजों का ज्ञान प्राप्त करता है। मनुष्य शरीर में रहनेवाला भी पुरुष परमात्मा है। वह महान् ईश्वर है, वही जीवरूप में भोक्ता है, वही ईश्वर रूप में साक्षी है और वही भरण करनेवाला प्राण एवं अनुमति देनेवाला मनस् तत्त्व है। इस प्रकार पुरुष को और प्रकृति को अलग-अलग पहिचानना चाहिये।

विवेक का मार्ग

इस प्रकार का विवेक प्राप्त करने के कई उपाय हैं। कोई ध्यान योग के द्वारा परमात्मा का आत्मा में दर्शन करते हैं। कोई शान्ति के द्वारा और कोई कर्मयोग के द्वारा ईश्वर को जानना चाहते हैं, और कोई स्वयं न जानते हुए दूसरों से उसका मर्म पानकर भक्ति के द्वारा ईश्वर की उपासना करते हैं। वे सब वेद के मार्ग का आश्रय लेने के कारण मृत्यु के पार हो जाते हैं। जितने प्राणी चर और अचर रूप में यहाँ हैं, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से बने हुए हैं। ईश्वर उन सबमें हैं और चाहे वे नष्ट हो जायँ किन्तु ईश्वर का नाश नहीं होता। जिसकी ऐसी दृष्टि बन जाती है कि कर्म प्रकृति के सत्त्व, रज,तम इन तीनों गुणों के कारण होते हैं, वह आत्मा को अकर्त्ता जान लेता है। जब इस प्रकार भूतों के पृथक् भाव को और उनमें

व्याप्त ईश्वर को मनुष्य पहचान लेता है तव कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं होता। इसका उदाहरण सूक्ष्म आकाश है, जो सव जगह होने पर भी किसी बन्धन में नहीं है। ऐसे ही यह आत्मा है, जो सब शरीरों में विद्यमान होने पर भी कहीं भी लिप्त नहीं होता। जैसे एक सूर्य समस्त लोकों को प्रकाश देता है, वैसे एक ईश्वर सब शरीरों में आत्मा रूप से प्रकाश भर रहा है।

चौंदहवाँ अध्याय—तीन गुणों का विवेचन

चौदहवें अध्याय का नाम गुणत्रय विभाग योग है। तेरहवें अध्याय में प्रकृति का परिचय देते हुए बार-बार उसके गुणों का उल्लेख दिया गया है। अतएव तीन गुणों का विवेचन करना आवश्यक था। इस सम्बन्ध में एक मूल बात यह कही गई है कि ईश्वर सृष्टि का पिता है और प्रकृति माता है। लौकिक जीवन की उपमा लेते हुए पिता को वीजप्रद अर्थात् गर्भाधान करनेवाला कहा गया है और प्रकृति वह योनि है जिसमें बीज आधान किया जाता है। वेदों में प्रकृति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु उसके लिए माता, महत् और योनि शब्द आते हैं। जो महत् है वही महिमा या प्रकृति है, उसे ही विराज् और योनि और माता भी कहते हैं। उसे ही यहाँ गीता में महद् ब्रह्म कहा गया है। यह सुन्दर परिभाषा स्मरणीय है।

ईश्वर के सम्पर्क से जब प्रकृति गर्भित होती है, तो उसमें प्रसुप्त पड़े हुए गुण क्षुब्ध हो जाते हैं। गुणों की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। क्षोभ से जब गुणों में वैषम्य होता है, तो उसे ही विकृति समझना चाहिये। ये गुण सत्त्व, तम और रज कहे जाते हैं। केवल सत्त्व से और केवल तम से सृष्टि नहीं होती। सत्त्व प्रकाश की संज्ञा है और तम अन्धकार की। ये दोनों गुण एक दूसरे से अलग रहकर सृष्टि नहीं कर सकते। पर जब वे आपस में टकराते हैं तो प्रकाश में अन्धकार और अन्धकार में प्रकाश भर जाता है। दूर क्यों जायँ अपने सामने नित्य होनेवाले रात और दिन के नाटक में प्रत्येक क्षण हमें प्रकाश और अन्धकार के इस पारस्परिक मिश्रण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। दिन का कोई भी मुहूर्त लें उसमें कुछ न कुछ अंश अन्धेरे का रहता

ही है। ऐसे ही रात के हरेक क्षण में अन्धेरे में उजाला मिला हुआ है। वेद की भाषा में इन्हीं को मित्र और वरुण कहते हैं। मित्र प्रकाश की संज्ञा है और वरुण अन्धकार की। मित्र और वरुण के तेज से ही सृष्टि होती है। वह तेज उर्वशी या विराट् प्रकृति में संक्रान्त होता है और उससे मैत्रावारुणि वसिष्ठ का जन्म कहा जाता है। यह वसिष्ठ जीवन का आरम्भ करने वाले मूल भूत प्राण की संज्ञा है। उस प्राण में मित्र और वरुण या प्राणापान दोनों मिले होते हैं। यहाँ की परिभाषा में कहना होगा कि उस मूल भूत प्राण में सत्त्व और तम् दोनों मिलकर एक नये गुण को जन्म देते हैं। जिसका नाम रजोगुण है। रजोगुण का अर्थ है गति अर्थात् सत्त्व और रज की आपस में टक्कर या दूसरे के प्रति खिचाव इसके कारण दोनों में से एक भी चैनसे नहीं बैठता। दोनों मधु-कैटभ के रूप में आपस में टकराने लगते हैं, तभी सृष्टि सम्भव होती है।

जैसा गीताकार ने कहा है, कर्म की संज्ञा ही रजोगुण है (रजः कर्मणि भारत ! १४।९) इस कर्म का स्वरूप राग, या खिचाव है। जब तक एक बिन्दु का दूसरे बिन्दु के प्रति आकर्षण नहीं होता, तब तक रजोगुण रूपी कर्म की सम्भावना नहीं होती। सत्त्व गुण अपने आनन्द और प्रकाश में या ज्ञान में अलग रहे तो कोई कर्म सम्भव नहीं होगा। ऐसे ही तमोगुण अपने प्रमाद अन्धकार और मूर्च्छा में अलग रहे तो भी कर्म की प्रेरणा नहीं होगी। किन्तु जब सत्त्व तम की ओर या तम सत्त्व की ओर हाथ बढ़ाता है, तब उन दोनों में एक राग या आकर्षण उत्पन्न होता है। वही दोनों को मिलाने वाला रजोगुण है। उस राग का नाम तृष्णा है (रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवं, १४।७)। यह वस्तु मुझे प्राप्त हो जाय, मेरा केन्द्र दूसरे के साथ जुड़ जाय, इस प्रकार की भावना तृष्णा है। संसार के सभी छोटे-बड़े प्राणी ऐसी भावना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं।

तीन गुणों के लक्षण

इस प्रकार तीन गुणों की सरल और स्पष्ट परिभाषा गीता के इस प्रकरण में पाई जाती। अब आगे और भी स्पष्टता के लिये इन तीनों

गुणों के लक्षणों का विवेचन किया गया है। जब सब इन्द्रियों में प्रकाश भरा हुआ जान पड़े और उनमें आत्म-संयम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का अनुभव हो, तो समझना चाहिये कि सत्त्व गुण बढ़ा हुआ है

जब मन में लोभ उत्पन्न हो, काम की ओर प्रवृत्ति हो चित्त में शान्ति न हो और उथल पुथल हो, बाहर की वस्तुओं में स्पृहा या लगाव हो तो समझना चाहिये कि रजोगुण बढ़ा हुआ है।

जब मन में अन्धकार-सा छाया रहे, कुछ भी काम करने को मन न करे, आलस्य और मूर्च्छा जकड़े रहे, तो समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

मन की वृत्ति इन्हीं तीन गुणों में रहती है और प्रत्येक व्यक्ति का जन्म भर पीछा करती है। यदि कोई सत्त्व गुण को लिये हुए मृत्यु पाता है, तो दूसरे जन्म में उसे वैसी ही अच्छी परिस्थितियाँ मिलती हैं अर्थात् वह निर्मल ज्ञान और अतिउत्तम भोगों को प्राप्त होता है। जो रजोगुण के भावों को लेकर शरीर छोड़ता है वह अगले जन्म में भी कर्म के मार्ग में पड़ता है। जो तमो गुण में डूबा हुआ शरीर छोड़ता है वह दूसरे जन्म में भी मोहग्रस्त बना रहता है और उसे ऊँचे कर्म या ज्ञान की प्रेरणा नहीं होती।

जो उच्चकोटि का कर्म है, उसका फल सात्त्विक ज्ञान है। जो निम्न कोटि का तृष्णायुक्त रजोगुणी कर्म है, उसका फल दुःख है, मोह में फँसे हुए तमो गुण का फल अज्ञान ही है। सत्त्व से ज्ञान, रजस् से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं। सतोगुणी व्यक्ति ऊँचे उठते हैं, रजोगुणी बीच में रहते हैं और तमोगुणी नीचे गिरते हैं।

ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। इनको जो पहचान लेता है वह ईश्वर को उनसे अलग जानकर उसे प्राप्त कर लेता है। इन गुणों को जानकर ही यह सम्भव होता है कि व्यक्ति जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु से छूटकर अमृत सुख को पा ले। इस पर अर्जुन ने कामकाजी व्यक्ति का दृष्टिकोण अपनाते हुए बुद्धिमत्ता का प्रश्न किया कि यह कैसे पता चले कि कोई व्यक्ति इन तीनों गुणों के बन्धन से ऊपर उठ गया है।

गुणातीत व्यक्ति के लक्षण

कृष्ण ने भी इस प्रश्न का निखरा हुआ स्पष्ट उत्तर दिया—जो व्यक्ति प्रकाश या सतोगुण, कर्म में प्रवृत्ति या रजो गुण, और मोह या तमोगुण के आने पर उनसे घबराता नहीं और उनके हट जाने पर दुःखी नहीं होता, वह मानो इन गुणों से ऊपर उठा हुआ है। गुण जिसमें क्षोभ नहीं उत्पन्न करते, उनके उदय और नाश में जो एक समान रहता है, जो यह समझता है कि गुण अपना काम कर रहे हैं, मैं उनका प्रभाव क्यों पड़ने दूं, वही सच्चा व्यक्ति है। इसलिए ऐसा व्यक्ति दुःख और सुख को एक समान मानने लगता है। वह अपने अन्तरात्मा में स्थिर हो जाता है। उसके सामने मिट्टी का ढेला और सोने की डली बराबर है। वह प्यारे मित्र और शत्रु को एक सा मानता है। उसके लिये निन्दा और स्तुति बराबर हैं। ऐसे व्यक्ति को हम धीर कहते हैं। मान और अपमान में जो तुल्य रहता है, शत्रु और मित्र में जो अपना सन्तुलन नहीं छोड़ता और कर्म करने की जो भारी प्रवृत्ति है उससे बचा रहता है, ऐसे व्यक्ति को समझना चाहिये कि वह गुणातीत है। गुणों से मन हटा लेने का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर यह होता है कि वह अपने मनको ब्रह्मभाव में डाल देता है और अनन्य भक्ति से ईश्वर का चिन्तन करता है। फिर ऐसा क्या है जो उसे नहीं मिल जाता ? भूतों का क्षर जगत् (ब्रह्मणः प्रतिष्ठा), प्राण का अमृत जगत्, अव्यय पुरुष या मनस् तत्त्व का संसार, इन तीनों से ऊपर पारमेष्ठ्य लोक जहाँ समस्त धर्मों का अधिष्ठान है (शाश्वतस्य धर्मस्य), और उससे भी ऊपर जो नितान्त आनन्द का स्वयम्भू लोक है(सुखस्य एकान्तिकस्य), इन पाँचों को गुणातीत व्यक्ति अपने जीवन में प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इन पाँचों की समस्याओं का समाधान उसे प्राप्त हो जाता है। गीताकार ने यहाँ एक गूढ़ शैली को अपनाते हुए क्रमशः भूतात्मा, प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा, महानात्मा (शाश्वत धर्म), अव्यक्तात्मा (एकान्तिक सुख) इन पाँच आत्माओं का वर्णन किया है। ये पाँचों प्राकृतिक हैं। इन पाँचों से ऊपर

पुरुष या ईश्वर है। इसीलिये भगवान् का कहना है कि मैं इन पाँचों की प्रतिष्ठा या आधारभूमि हूँ। इन में भूतात्मा या प्राणात्मा का सम्बन्ध तमोगुण से है। बीच की प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध रजोगुण से है। प्रज्ञान या मन के दो भेद होते हैं। एक को प्रज्ञान और दूसरे को विज्ञान कहते हैं। प्रज्ञान मन नीचे की दो वृत्तियों के साथ मिला रहता है। वह इन्द्रियानुगामी होता है। किन्तु वही जब प्रकाश का अनुगामी बनता है तब उसे विज्ञान मन या विज्ञान बुद्धि कहते हैं। इससे ऊपर महान् आत्मा और अव्यक्त आत्मा सतोगुण से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार प्रकृति के तीन गुण ही प्रत्येक व्यक्ति में इन पाँच आत्माओं के धरातल पर प्रकट होते हैं। ये सब प्रकृति के अंश हैं। इन पाँचों से ऊपर ईश्वर, चैतन्य पुरुष या क्षेत्रज्ञ है। उसकी ओर मनुष्य का ध्यान तब जाता है, जब वह तीन गुणों के ब्रह्मजाल से अपने आपको ऊपर उठा लेता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय–पुरुषोत्तमयोग

पन्द्रहवें अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग है। पुरुषोत्तम का तात्पर्य है, क्षर पुरुष एवं अक्षर पुरुष से ऊपर ईश्वर पुरुष अर्थात् अव्यय पुरुष। वही तो गीता का लक्ष्य है। अतएव इस अध्याय में पहले संसार रूपी वृक्ष की व्याख्या की गई है। इस पांचभौतिक जगत् को क्षर पुरुष या क्षर ब्रह्म कहा गया है। इसका भोग करनेवाला जो जीव है वह अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर दोनों से ऊपर अव्यय पुरुष या ईश्वर है, उसी की ओर ले जाना इस अध्याय का लक्ष्य है।

सबसे पहले संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष की व्याख्या की गई है। यही भाव कठ उपनिषद् में भी आया है; उससे पूर्व स्वयं ऋग्वेद में संसार की कल्पना वृक्ष के रूप में की गई है। यह वृक्ष ऐसा है कि जिसकी जड़े ऊपर ह और शाखाएँ नीचे फैली हुई हैं। यहाँ ऊर्ध्व का सच्चा अर्थ ब्रह्म या चेतन पुरुष है और अधः का तात्पर्य प्राकृतिक जगत् है। इस संसार वृक्ष का मूल तो ब्रह्म में ही है। उसका विस्तार अवश्य प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा

होता है। यह वृक्ष अव्यय कहा गया है। दार्शनिक कतरब्यौंत से इसका चाहे जो परिणाम निकाला जाय, किन्तु सच यह है कि जब इस विश्व-वृक्ष की जड़ ब्रह्म में है, तो जब तक वह जड़ हरी रहेगी तब तक इस पेड़ का तना भी हरा रहेगा। यही इसका अव्यय रूप है। कोई नहीं जानता कि कब इसका आरम्भ हुआ और कब अन्त होगा। महाकाल की लपेट में यह अनन्त संसार भी नित्य चला जाता है। जैसे पेड़ में पत्ते होते हैं, वैसे ही इस बड़े संसार रूपी पीपल में जो छन्दों की गति या लय है, वही इसके पत्ते हैं। गति के कारण इसमें नये-नये पत्ते फूटते रहते हैं और लोकों की सृष्टि होती रहती है। यहाँ यह भी कहा है कि जो इस विश्व रूपी अश्वत्थ की विद्या को समझता है, वही सच्चा वेदज्ञ है। सीधे अर्थों में वेदविद्या सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है। सृष्टितत्त्व की व्याख्या ही वेदों को इष्ट है। विश्व रचना के मूल भूत नियम ही वेदों की प्रतीकात्मक भाषा में कहे गये हैं। इन्द्र और वृत्र किसी इतिहास विशेष के प्राणी नहीं। वे तो विश्व की प्राण-मयी और भूतमयी रचना के दृष्टान्त हैं। जैसा ऋग्वेद में स्वयं कहा है—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्र ब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥

(ऋग्वेद १०।५४।२)

'हे इन्द्र, अपने शरीर को बढ़ा कर बलों का बखान करते हुए, जो तुम इधर-उधर विचरते हो, वह तुम्हारे युद्धों का वर्णन माया है। तुम्हारा न कोई शत्रु आज है न पहले कभी हुआ।' इस प्रकार वेद के ऋषियों को यह स्पष्ट था कि इन्द्र और वृत्र के युद्धों का वर्णन और इसी प्रकार दूसरे देवों और असुरों का उल्लेख सृष्टि के मूल भूत नियमों का उपाख्यानों द्वारा विवेचन है। अतएव गीताकार का यह वचन यथार्थ है कि संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का ज्ञान ही असली ज्ञान है (यस्तं वेद स वेदवित्, १५।१)।

जहाँ पेड़ होता है, वहाँ उसकी डालियाँ और पल्लव फैलते ही हैं। इस संसार वृक्ष की शाखायें तीन गुणों के अनुसार ऊपर और नीचे की ओर

फैलती हैं, अर्थात् सतोगुण की शाखायें ऊपर और तमोगुण की नीचे की ओर प्रसार पाती हैं। ऊपर का अर्थ चैतन्य पुरुष और नीचे का अर्थ प्रकृति है। इन्द्रियों के विषय इन्हीं शाखाओं में फुटाव लेने वाले नये नये पल्लव हैं। जैसे पेड़ में उसकी जटायें ऊँचे से नीचे की ओर आती हैं, ऐसे ही कर्म मनुष्य-लोक में नीचे की ओर फैलकर व्यक्ति को बद्ध मूल कर देते हैं।

इस संसार वृक्ष का सच्चा रूप कोई नहीं जानता। इसका आदि और अन्त नहीं और कहाँ इसकी जड़ है, ज्ञात नहीं होता। किन्तु इसका मूल कहीं बहुत दृढ़ है। केवल एक ही उपाय से इस वृक्ष को काटा जा सकता है, और वह है असंग और अनासक्ति का कुल्हाड़ा। मनुष्य अपने मन को संसार के विषयों के पल्लवों से खींच ले तो यह वृक्ष स्वयं ही नास्ति हो जाता है। इसका उपाय है, उस आदिपुरुष परब्रह्म की शरण में अपने आप को ले जाना जहाँ से जगत् की यह पुरानी प्रवृत्ति चली है और जहाँ पहुँचकर फिर लौटना नहीं होता। वह मोक्ष का स्थान ही परमपद है। उस अव्यय स्थान में वे ही पहुँच पाते हैं जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से छूट गये हैं। उस ब्रह्म तत्त्व की ज्योति का क्या कहना है? उसके सामने सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की ज्योति फीकी है। वस्तुतः ऋग्वेद में ब्रह्म तत्त्व की उपमा देने के लिये सूर्य की ज्योति का उदाहरण दिया गया है। किन्तु एक सूर्य क्या कोटि-कोटि सूर्य भी उसकी तुलना नहीं कर सकते। यह सूर्य तो प्रतीक मात्र है (ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः, यजुर्वेद २३।४८)।

जीव का स्वरूप

इसके अनन्तर भगवान् ने एक ऐसी बात कही है कि उसमें मनुष्य को सबसे अधिक रुचि हो सकती है, वह जीव का स्वरूप है। मनुष्य को चाहे ईश्वर में विश्वास हो या न हो किन्तु स्वयं अपनी सत्ता में अविश्वास नहीं होता। गीताकार का कथन है कि पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन ये प्रकृति से उत्पन्न हैं। इन्हें ही शरीर कहते हैं (मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि १५।७)। किन्तु यह शरीर जड़ है। इस भारी पुतले को खड़ा रखनेवाला

जीव है जो ईश्वर का सनातन अंश है। यह आस्था और यह विश्वास गीता की सबसे बड़ी देन है (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः १५।७)। 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' यह एक छोटा-सा वाक्य अपने अन्तर में कितना महान् तत्त्व लिये हुए है, इसके मूल में कितना गहरा अनुभव है ? यह एक ऐसी सच्चाई है जिसका स्वयं अनुभव करना पड़ता है। किन्तु इससे बढ़कर आशा और विश्वास का दूसरा सन्देश नहीं है। ईश्वर की शक्ति बार-बार जीव रूप में आती और जाती है, मानो वायु एक फूल से दूसरे फूल की गन्ध लेकर बहती हो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन छोटे दिखाई पड़ने वाले पाँच विषयों को भोगने के लिये कान, आँख, त्वचा, जि ह्वा और नासिका ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और इनके साथ छठा मन है। यही तो प्रकृति की बड़ी विभूति है, जिसने जीव को भुलावे में डाल रक्खा है। जो ज्ञानी हैं, वे इनके कार्य को देखते हैं, मूढ़ नहीं देख पाते। किन्तु ईश्वर का तेज अवश्य है और वह सबसे ऊपर है। उसी के ओज से यह पृथ्वी और पंचभूत टिके हैं। ईश्वर का रूप जो सोम है, वह एक प्रकार का जीवन रस है। उसी से मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभी उत्पन्न हो रहे हैं और हरे होकर बढ़ते एवं काल पाकर सूख जाते हैं (पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः १५।१२)।

वैश्वानर-विद्या

इसके अनन्तर जीव की ही व्याख्या करते हुए कृष्ण ने एक दूसरी वैदिक परिभाषा का उल्लेख किया है। वह वेद की वैश्वानरी विद्या है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(१५।१४)

इसका स्पष्ट अर्थ यों समझना चाहिये—सृष्टि की दो मूल धारायें हैं, एक सोम और दूसरी अग्नि। सोम ठंडी धारा है और अग्नि गरम धारा है। इन्हें ही ऋग्वेद में आपोभूयिष्ठ और अग्निभूयिष्ठ कहा गया है (ऋग्वेद १।१६१।९)।

'आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्'। अथर्ववेद में इन्हें ही हिम और घ्रन्स कहा गया है (अग्नी हिमम् घ्रंसम् च, अथर्व १३।१।४६)। अग्नि और सोम से ही संसार की रचना हुई है। यहाँ १३वें श्लोक में सोम और चौदहवें में अग्नि का वर्णन है। गीताकार ने वैश्वानर की स्पष्ट परिभाषा दी है। प्राण और अपान के रूप में जीवनी शक्ति शरीरों में संचार कर रही है। इनका जो सम्मिलित रूप है, वही वैश्वानर अग्नि है। जैसा शतपथ में कहा है—स एषोऽग्निर्वैश्वानरः यत् पुरुषः (शतपथ १०।६।१।११)। यहाँ अग्नि को अन्नों का पचानेवाला कहा है, अर्थात् वह अन्नाद है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि अग्नि देवों का जठर है (अग्निर्देवानां जठरम्, तैत्तिरीय २।७।१२।३)। शौनक ने भी इसका स्वरूप यों कहा है :—

तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन् ।

(बृहद् देवता १।६५)।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में जो एक सुनिश्चित तापमान है वही इस अग्नि का स्वरूप है। उसी ताप के कारण शरीर के समस्त अवयवों में सिकुड़ने और फैलने की क्रिया हो रही है जो प्राण का संधमन है। वैसे देखा जाय तो उदर के भीतर कोई अग्नि की ज्वाला नहीं है, किन्तु नाना प्रकार के दाहक और पाचक रसों के रूप में प्रकृति स्वयं उस शक्ति का निर्माण करती है, जो नाना भांति के खाद्य पदार्थों को पचा डालती है। इस समस्त प्रक्रिया की शक्ति को एक शब्द में कहा जाय तो उसकी संज्ञा वैश्वानर है। आकाश में सूर्य और पृथ्वी पर वैश्वानर ये दोनों एक ही महाशक्ति के दो रूप हैं। इसी लिये ऋग्वेद में कहा है—वैश्वानरो यतते सूर्येण (ऋग्वेद १।९८।१)। यह वैश्वानर अग्नि सब प्राणि-जगत् का राजा है। (राजा हि कं भुवनानां अभिश्रीः, ऋग्वेद १।९८।१)। जहाँ वैश्वानर की सत्ता है, वहीं सब प्रकार का मंगल है। वैश्वानर बुझ गया तो शरीर राख हो जाता है। इस प्रकार जो वैश्वानर अग्नि तत्त्व है, वही चेतना का सबसे बड़ा लक्षण है, वह साक्षात् ईश्वर का अंश है।

हृद्देश में ईश्वर की सत्ता

इसी के आगे मानो व्याख्या रूप में ही एक तत्त्व और कहा गया है—'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो', अर्थात् मैं सबके हृदय में बैठा हूँ। यह वही बात है जिसे गीता के अन्त में फिर दुहराया गया है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (१८।६१)

जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर सबके हृदय में बैठा है। इन दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है। इसे ही उपनिषदों में अंगुष्ठ पुरुष कहा है :—'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः जनानां हृदये सन्निविष्टः', (अंगुष्ठमात्रः पुरुषो हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति)। अंगुष्ठ मात्रा का अर्थ सांकेतिक है, अर्थात् वह चेतना अंश जो सबके भीतर विद्यमान है, पर जिसकी कोई मात्रा या माप नहीं। जिसकी माप होती है, वह तो साढ़े तीन हाथ का चाक्षुष पुरुष कहलाता है उसकी परछाईं पड़ती है। अंगुष्ठ पुरुष की कोई परछाई नहीं पड़ती। वह तो निर्धूम अग्नि के समान एक ज्योति मात्र है। हृद्देश का अर्थ भी रक्त का अभिसंरण करनेवाला हृदय नामक अवयव नहीं। हृद्देश का अर्थ व्यक्ति का वह केन्द्र है, जो प्रकृति से ऊपर अव्यक्त है, किन्तु प्रत्येक स्थूल देह में रहता अवश्य है, उसी के कारण तो चेतना और प्राण की सत्ता है।

वही चेतन पुरुष स्मृति, अज्ञान और ज्ञान का कारण है। स्मृति आदि के स्थूल उपकरण या अवयव तो शरीर में हैं, जिन्हें हम मस्तिष्क आदि के रूप में जानते हैं, किन्तु उनका वास्तविक कारण चेतना ही है। यहाँ वैश्वानर विद्या के सम्बन्ध में बताते हुए गीताकार ने एक पते की बात और कही है—

वेदश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (१५।१५।)

अर्थात् वेदविद्या का एक मात्र सार वैश्वानर पुरुष या चैतन्य का ज्ञान करना ही है। वेद की यही शैली है कि वह प्राकृत भूतों या पदार्थों का वर्णन करते हुए उनमें अनुस्यूत जो देव तत्त्व है उसी पर बारम्बार दृष्टि ले जाते

हैं। भूतों में देव की सत्ता यही वेद के ज्ञान का मर्म है। वह देव तत्त्व ही ईश्वर तत्त्व है, जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है।

क्षर और अक्षर पुरुष

इसके अनन्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीन पुरुषों की व्याख्या जैसी यहाँ गीता में कही है, वैसी संस्कृत साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलती :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

(१५।१६)

अर्थात् पंचभूतों की संज्ञा क्षर है और उन भूतों के ढेर या शरीर में रहनेवाला अक्षर कहलाता है। वही जीव है। इस अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग है। अतएव पुरुषोत्तम की भी व्याख्या स्पष्ट की गई है, अर्थात् क्षर और अक्षर या प्रकृति और जीव इन दोनों से ऊपर जो उत्तम पुरुष अव्यय ईश्वर है वही परमात्मा है —

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः (१५।१७)।

इसी परिभाषा को और दृढ़ करते हुए लिखा है कि मैं क्षर से भी ऊपर हूँ और अक्षर से भी ऊपर हूँ। इसीलिये लोक में और वेद में मुझे पुरुषोत्तम कहा है। यह गुह्य शास्त्र मैंने तुम्हें बताया।

सोलहवाँ अध्याय—दैवी और आसुरी संपद्

सोलहवें अध्याय की संज्ञा दैवासुर संपद् विभाग योग है। इसकी संगति पहले दो अध्यायों के साथ स्पष्ट है, क्योंकि सत्त्व गुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति देव और तमो गुणी प्रकृति के असुर होते हैं। अत एव स्पष्ट शब्दों में यह कहना आवश्यक था कि दैवी प्रवृत्ति और आसुरी प्रवृत्ति इन दोनों की अलग-अलग पहिचान क्या है ?

दैवी सम्पत्ति के गुण इस प्रकार हैं—अभय, निर्भयता, चित्त की शुद्धि ज्ञानात्मक दृष्टिकोंण में निरन्तर स्थित रहना, दान, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, कुटिलता का अभाव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनता या चुगलखोरी का न होना, प्राणियों पर दया, लोलुपता का अभाव, मृदुता, मर्यादा की लज्जा, सफलता, तेज, क्षमा, घृति, शौच, अद्रोह, अतिमान या अहंकार का अभाव। ये दैवी गुण हैं। इनसे व्यक्ति का सतोगुणी प्रभाव पहिचाना जाता है।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण ये हैं—दम्भ, दर्प, अभिमान (अपने ही घमण्ड में चूर रहना), क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान।

दैवी गुणों से मुक्ति और आसुरी गुणों से बन्धन प्राप्त होता है। दैवासुर युद्ध या विरोध की कल्पना ऋग्वेद में ही पाई जाती है। वहाँ समस्त सृष्टि की व्याख्या देवों और असुरों के द्वन्द्व युद्ध के रूप में की गई है। ज्योति अमृत और सत्य की संज्ञा देव है। तम, मृत्यु और अनृत असुरों का लक्षण है। ये गुण तो दृष्टान्त मात्र हैं। इन में चाहे जितने जोड़े जा सकते हैं।

आसुरी लक्षण

यहाँ सातवें श्लोक से बीसवें श्लोक तक आसुरी गुणों की लम्बी सूची पुनः बताई गई है। जिनका स्वभाव आसुरी है, वे न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिये और न ये समझते हैं कि क्या नहीं करना चाहिये। न उनमें पवित्रता का भाव रहता है। और सदाचार के अनुसार जीवन वे संसार में ईश्वर की सत्ता नहीं मानते और कहते हैं कि इसकी कोई पक्की आधार शिला भी नहीं है। यहाँ तो सब व्यवहार झूठ का है। यहाँ किसी को किसी से कुछ मतलब नहीं। सब अपने-अपने काम की सिद्धि के लिए मतलब रखते हैं। वे संसार में सबका बुरा चेतते हैं। उनकी इच्छायें कभी पूरी नहीं होतीं। वे बुरी बातों का आग्रह लेकर चलते हैं। वे अपने चारों ओर आशा और कामनाओं का पूरा जाल बुने रहते हैं और सोचते हैं आज यह पा लिया है, कल और यह पा लेंगे। इतना

धन आज है, इतना आगे और हो जायगा। आज इसे मार लिया, कल उस शत्रु को साफ करूँगा। मैं सबका मालिक हूँ। मैं बलवान् और सुखी हूँ। मैं रईस और कुलीन हूँ। मेरे जैसा और कौन है ? ऐसे मोह जाल में वे फँसे रहते हैं और उनका मन अनेक बातों में भागता रहता है। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध का आश्रय लेकर वे अनेक प्रकार के बुरे कर्मों में लिप्त रहते हैं। जन्म-जन्म में उन्हें आसुरी योनि ही मिलती है। ईश्वर तत्त्व की ओर वे ध्यान नहीं देते। काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं। इनमें अन्धेरा छाया रहता है। इनसे छूटने पर ही मनुष्य अपने कल्याण का आचरण कर सकता है। ऐसे आसुरी लोगों के लिये अच्छा उपाय है कि वे शास्त्र की बात मानकर चलें और अपनी मनमानी न करें।

सत्रहवाँ अध्याय–तीन प्रकार की श्रद्धा

सत्रहवें अध्याय का नाम श्रद्धा त्रय विभाग योग है। इसका सार यह है कि सत्त्व, रज और तम के अनुसार मनुष्य को कर्म में लगानेवाली प्रेरणा भी तीन तरह की है। मनुष्य का मन जैसा कर्म करना चाहता है, उसी को उसकी श्रद्धा कहते हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(१७।३)

संस्कृत में मन को ही सत्त्व कहते हैं। बाण नें कादम्बरी में लिखा है—'सत्त्वाख्यं ज्योतिः मनः'। प्रत्येक प्राणी के भीतर जो मनरूपी ज्योति है उसी का नाम सत्त्व है। हरएक प्राणी अपने-अपने सत्त्व के कारण ही इस संसार में सत्तावान् बनता है। मनुष्यों के स्वभाव और कर्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं और होते हैं, किन्तु उनका सामान्य वर्गीकरण सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी इन तीन भेदों में आ जाता है। इसलिये कुछ प्रधान उदाहरण लेकर गीताकार ने इन तीन गुणों के भेदों के अनुसार आहार, यज्ञ, तप, दान,

इन चारों के भेद अत्यन्त स्पष्ट भाषा में बताये हैं। सात्विक आहार वह है जिससे आयुष्य, मानसिक शक्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है। सात्त्विक यज्ञ वह है जो विधिपूर्वक किसी इच्छा के बिना किया जाता है। तप भी मन शरीर और वाणी के भेद से तीन तरह का है। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, पवित्रता, पूजनीय व्यक्तियों का पूजन, यह शरीर का तप है। किसी का जी न दुःखाना, सत्य और प्रिय वचन कहना और स्वाध्याय करना वाणी का तप है। मन को प्रसन्न रखना सौम्य भाव से रहना, मौन, आत्म संयम और भावशुद्धि यह मन का तप है। सात्त्विक तप उसे कहते हैं जो फल की इच्छा के बिना श्रद्धा से किया जाता। सात्त्विक दान वह है जो योग्य पात्र को उचित देशकाल में दिया जाय।

ओम् तत् सत्

इसी प्रकरण के अन्त में 'ओम् तत् सत्' इस प्राचीन वाक्य की अध्यात्म व्याख्या की गई है। ये तीनों शब्द ब्रह्म के ही वाचक हैं। 'ओम्' भी ब्रह्म है, 'तत्' से भी ब्रह्म का संकेत किया जाता है, और सत्य भी ब्रह्म परक भावों के लिये है। जो लोग ईश्वर और विश्व की सत्ता में विश्वास रखते हैं, जो भगवान् को महा सत्तावान् मानते हुए जीवन को भी उसी के अनुसार सत्तायुक्त समझते हैं, उन्हीं के लिये यज्ञ, तप-दान की धार्मिक क्रियाएं हैं।

वेद, यज्ञ और ब्रह्मतत्त्व इन तीनों से मिलकर बनी हुई जो जीवन की सात्विक धारा है, वही तो 'ओम् तत् सत्' इस मूल स्रोत से प्रकट हुई है। जो इस धारा को नहीं मानते उनके लिये न ओम् का कुछ अर्थ है न तत् की कोई सत्ता है और न सत् का कोई महत्व है। जिसे दैवी सम्पत्ति या दिव्य प्रकाश, अमृत और सत्य का मार्ग कहा है वह सब 'ओं तत् सत्' इस सूत्र में आ जाता है। यही वेदों का सार है। यही जीवन में सद्भाव हैं। इसके विपरीत जो कुछ है वह असद् भाव है। असत् में इस लोक में न कोई सार है न परलोक में।

अट्ठारहवाँ अध्याय——मोक्ष-सन्यास योग

अठारहवें अध्याय की संज्ञा मोक्षसन्यास योग है। कई प्रतियों में मोक्ष योग, सन्यास योग, परमार्थ निर्गुण मोक्ष योग या केवल परमार्थ निर्णय ही कहा गया है। एक प्रति में इस प्रकार पाठ है—

सर्वकर्मफलत्यागपूर्वकं काम्यकर्मणां सम्यङ्न्यासपूर्वकं सत्त्वरजस्तमोगुणमयजगद्विवरणपूर्वकं ब्रह्मप्राप्तियोगः ॥

अध्याय को ध्यानपूर्वक देखने से यही विदित होता है कि यहाँ अन्त में गीताकार ने सन्यास और कर्मफल त्याग इन दो मार्गों के बीच में समन्वय स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। सन्यास का लक्षण काम्य कर्मों को छोड़ देना है और त्याग की परिभाषा सब कर्मों के फल का त्याग है (१८।२)। इसी बात को कई प्रकार से पहले भी कहा जा चुका है। जो लोग कर्म छोड़कर सन्यास के पक्ष में हैं उनके लिये भगवान् का कहना है कि यज्ञ, दान, तप जैसे पवित्र कर्मों को छोड़ने से क्या लाभ? इसलिये इन कर्मों को करते ही रहना चाहिये। केवल उनके फल की आसक्ति से अपने को बचाना चाहिये। यही मेरा उत्तम मत है। (१८।६)। कर्म को छोड़ने के दो ही कारण हो सकते हैं या तो तमोगुणी मोह से अर्थात् आलस्य और प्रमाद के कारण, या कर्मों को शरीर के लिये झंझट समझ कर यह राजस त्याग है, उससे भी त्याग का कोई फल नहीं मिलता। इसलिये जो करना है उसे करना ही चाहिये, हां उसके फल में आसक्ति न रखनी चाहिए, यही सात्त्विक त्याग है। कोई कितना भी चाहे सब कर्मों को कैसे छोड़ सकता है (न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः, १८।११)। इसलिये कर्मफल छोड़ने से ही कोई व्यक्ति सच्चा त्यागी कहला सकता है।

कोई भी काम किया जाय उसके लिये पांच अंग आवश्यक हैं। पहला कर्त्ता या कर्म करनेवाला, दूसरा अधिष्ठान या शरीर जिससे कर्म किया जाय, तीसरा करण जिसकी सहायता से कर्म किया जाय चौथा वह चेष्टा जो कर्म का स्वरूप है। ये चारों भी रहें तो भी पांचवाँ कारण दैवी शक्ति या भाग्य

है, जो कर्म को प्रभावित करता ही है। शरीर मन या वचन से कोई भी कर्म किया जाय; ये पाँचों हेतु अवश्य चाहियें। अब इन पाँचों के विषय में ठीक दृष्टिकोंण क्या हो सकता है, इसकी स्पष्ट व्याख्या यहाँ दी गई है।

पहले तो जो व्यक्ति अपने आपको कर्त्ता मान कर कर्म करते समय अहंकार में भर जाता है, उसका कर्म वहीं बिगड़ जाता है (१८।१६)। मन में अहंकार का भाव न आने पावे और अपनी बुद्धि को उस कर्म फल में लिप्त न होने दे, वही कर्त्ता ठीक है (१८।१७)।

वस्तुतः किसी भी कर्म के दो अंग होते हैं। पहले कर्म की प्रेरणा मन में आती है और फिर कर्म किया जाता है। पहले अंग को कर्म-चोदना, और दूसरे को कर्म संग्रह कहा गया है। कर्म की प्रेरणा के भी तीन भाग होते हैं—एक कर्म के सम्बन्ध में विचार करनेवाला व्यक्ति (परिज्ञाता), दूसरे वह जो विचार करता है (ज्ञान) और तीसरे वह जिस लक्ष्य या उद्देश्य को लेकर विचार करता है (ज्ञेय)। इन तीन अंगों से कर्म की प्रेरणा या भावना का स्वरूप बनता है। उसी प्रकार जो वास्तविक कर्म किया जाता है, उसके भी तीन अंग हैं एक तो करने वाला (कर्त्ता) दूसरे जो सहायक साधन हैं (करण) और तीसरे स्वयं जो किया जाय उसका प्रत्यक्ष रूप (कर्म)।

इनमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता सत्त्व, रज और तम् के अनुसार तीन तीन तरह के हैं।

उत्तम ज्ञान तो वह है जिसमें कर्म की प्रेरणा या भावना सब प्राणियों में एक ईश्वर की सत्ता मान कर होती है। पर यदि सबको अलग-अलग समझ कर कर्म का विचार किया जाय तो वह रजोगुण है। जो बिना किसी तत्त्वविवेक और बिना हेतु के किया जाय वह तामस है। जिसमें यह भावना हो कि, करनेवाला अपने छोटे से काम में ही सब प्राणियों के हित की बलि देने को तैयार हो जाय, वह भी तमोगुणी है। (कृत्स्नवदेकस्मिन् १८।२२)।

ऐसे ही कर्म भी तीन तरह के हैं। जो आवश्यक है जो संग-रहित भाव से किया जाता है, जिसमें राग द्वेष नहीं होते और जो फल की आसक्ति के

विना किया जाता है, वह सात्विक कर्म है। जिसमें अहंकार आ जाय, कामना भी हो वहुत व्यर्थ परिश्रम भी पड़े और फल थोड़ा निकले रजोगुण वह कर्म है। जिस कर्म में हठ, हिंसा या हानि हो और अपनी शक्ति का विचार किये बिना जो मोह से किया जाय, वह तमो गुणी कर्म है।

ऐसे ही कर्त्ता भी तीन तरह के समझने चाहियें। जिसमें संग नहीं है, अहंकार नहीं है, जो धृति और उत्साह से रहित है और जो सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्त्ता सात्त्विक विचार का है। हर्ष-वाला शोक से भरा हुआ, लोभी, अपवित्र, हिंसक, आसक्ति युक्त कर्म फल को चाहनेवाला कर्त्ता रजोगुणी होता है। जो शठ, कपटी, आलसी, घमंडी, सदा रोने-धोनेवाला और काम में ढिल्लड़ हो, तमोगुणी कर्त्ता कहलाता है।

इस प्रकार विशुद्ध कर्म की स्थापना के लिये यहाँ कितनी ही वातें वताई गई हैं, जिनसे कर्म के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार करने में सहायता मिलती है और यदि उनके अनुसार ठीक कर्म किया जाय तो वह सच्चा कर्म संभव हो सकता है, जिसके लिये गीता शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। इसलिये कर्त्ता कर्म और ज्ञान के त्रिगुणात्मक भेद बताकर मनुष्य की बुद्धि और धृत्ति के भी इसी प्रकार तीन तीन भेद समझाये गये हैं। सात्त्विकी बुद्धि वह है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है, अभय और भय को एवं बन्धन और मोक्ष को एक दूसरे से अलग अलग पहिचानती है। यही उत्तम समझदारी है। राजसी या रजोगुणी समझ वह है, जो धर्म-अधर्म, कार्य और अकार्य का भेद नहीं जानती। तामसी बुद्धि सब से गई बीती है। वह अधर्म के कामको अज्ञानवश धर्म समझ लेती है और एक सीधी बात को भी उलटे ढंग से सोचती है (सर्वार्थान् विपरीतांश्च, (१८।३२)।

धृति-चरित्र का वह गुण है जिसके द्वारा मनुष्य उठाये हुए काम में दृढ़ चित्त रहकर उसे पूरा करता है। धृति भी तीन प्रकार की है। मन, प्राण और इन्द्रियों को एकाग्रता से साध कर जो उन्हें डाँवाडोल नहीं होने देती, वह सतोगुणी धृति है। जो धर्म, अर्थ और काम की बातों को

उठाकर या अपनाकर, फल की आसक्ति से प्रवृत्त होती है, वह रजोगुणी धृति है। जिसमें भय, शोक, विषाद, मद भरे हों, वह तामसी धृति है।

संसार में सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं। चाहे वह कर्म के मार्ग से चलें चाहे सन्यास से। इसलिये सुख के भी तीन भेद बताये गये हैं। जो पहले विष और पीछे अमृत के समान जान पड़े, वह सात्त्विक सुख है। उससे आत्मा और बुद्धि में प्रसन्नता मिलती है। जिसमें इन्द्रियाँ विषयों का भोग करती हुई पहले सुख मानती है और बाद में दुःख उठाती हैं, वह राजस सुख है। जिसमें पहले भी और पीछे भी केवल मोह ही हाथ लगे वह झूठा तामस सुख है, जैसा निद्रा, आलस्य और प्रमाद की अवस्था में होनेवाला सुख होता है।

पृथ्वी के मनुष्यों में या स्वर्ग के देवताओं में कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो इन तीन गुणों से छूटा हुआ हो। (१८।४०)।

यहीं गीताकार ने वर्ण धर्म के अनुसार बँटे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्गों के स्वाभाविक कर्मों का परिगणन किया है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष के समाज निर्माताओं ने मनुष्यों के स्वभाव और समाज की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर इन चार वर्णों की अवस्था को स्वीकार किया था। वर्णों के निजी कर्म विभाग के कारण एक तो पीढ़ी दर पीढ़ी उस कर्म को उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और दूसरे समाज में स्पर्धा द्वारा उत्पन्न होनेवाली अनिश्चित स्थिति भी नहीं होती। शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वर,-विश्वास ये ब्राह्म कर्म हैं, अर्थात् ब्राह्मणत्व के लक्षण हैं। यहाँ गीताकार ने यज्ञ, स्वाध्याय, ज्ञान आदि लक्षणों को छोड़ दिया है। ऐसे ही शौर्य, तेज, धैर्य, समर में दक्षता, विजय, दान, और राज्य शक्ति ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्र का स्वाभाविक कर्म परिचर्या या सेवा है। अपने कर्म से प्रत्येक व्यक्ति की शुद्धि होती है। जिस परमेश्वर ने यह विश्व रचा है और जिसने प्राणियों को बनाया है, उसी एक तत्त्व की उपासना मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा करता है और उनसे एक समान सिद्धि प्राप्त

करता है। इन कर्मों में या उनके करनेवाले वर्णों में छोटे-बड़े या कम-अधिक का कोई विचार नहीं है। मनुष्य को यह न चाहिये कि अपना कर्म छोड़कर दूसरे के कर्म के लिये भागता फिरे। प्रत्येक के लिये अपना अपना कर्म हितकर है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥

(१८।४६)

अपने सहज कर्म में कुछ त्रुटि भी जान पड़े तो भी उसे न छोड़ना चाहिये। क्योंकि यहाँ ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसमें कोई त्रुटि न हो।

जब कर्म करनेवाला कर्त्ता अनासक्त बुद्धि, जितेन्द्रिय और विगत-स्पृह हो जाता है, तो वह भी उसी नई कर्मसिद्धि अर्थात् कर्म न करने की सिद्धि को पा लेता है, जो संन्यास से मिलती है (१८।४९)।

इस सिद्धि को पहुंचकर जो ब्रह्म प्राप्ति की दशा होती है और जो ज्ञान की चरम निष्ठा है, उसमें व्यक्ति की क्या स्थिति होती है, इसको भी कहा गया है। विशुद्ध बुद्धि से आत्मसंयम करके शब्दादि पाँच विषयों को दूर हटाकर, राग और द्वेष से मुक्त होकर, एकान्त का सेवन, अल्पाहार, वाणी, शरीर और मन का संयम, वैराग्य भाव की उपासना और सदा ध्यान में प्रीति इन गुणों से व्यक्ति ब्रह्ममूर्त्ति हो जाता है। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह, इन सबसे बचता हुआ ब्रह्मभूत व्यक्ति अपने आत्मा के आनन्द में किसी बात का शोक नहीं करता और न कोई इच्छा करता है और सब प्राणियों से समान भाव रखता हुआ ईश्वर की परम भक्ति ध्यान में लाता है (१८।५४)।

इस प्रकार चाहे संन्यास हो या कर्म योग दोनों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार ही है और ईश्वर की अनन्य भक्ति से बढ़कर उसका कोई दूसरा उपाय नहीं। जिसे ऊपर कर्म योग कहा गया है, वही बुद्धि योग है, जिसमें अपने चित्त से सब कर्मों के फल को भगवान् को अर्पण करके अपने मन को

ईश्वरमय बनाया जाता है (१८।५७)। जो ईश्वर परायण होता है, वह सब कठिनाईयों को पार कर लेता है।

सिद्धान्त रूप से इतना बताकर भगवान् ने विशेष रूप से अर्जुन को लक्ष्य करके कहा—"युद्ध तुम्हारा सहज कर्म है,पर अहंकारवश यदि तुम उससे बचना चाहो तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या होगा, क्योंकि प्रकृति तुमको उसमें लगाकर ही छोड़ेगी। स्वाभाविक निज कर्म से बचकर मोहवश तुम चाहते हो कि कर्म न करें, तो ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें विवश होकर करना ही होगा। हे अर्जुन! ईश्वर सबके हृदय में है। वह अपनी मायाशक्ति से प्राणियों को ऐसे घुमाता है, जैसे वे चाक पर चढ़े हुए घूम रहे हों। अत एव सब प्रकार से उसी ईश्वर की शरण में जाओ और स्थायी शान्ति प्राप्त करो। मुझे जो कहना था, वह ज्ञान मैंने तुम्हें बता दिया। अब जैसी इच्छा हो करो। (१८।६३)।

एक और बात तुम्हें अपना अत्यन्त प्रिय जानकर कहता हूँ। उससे तुम्हारा हित होगा। अपने मन को मुझमें लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे लिये यजन करो और मुझे ही प्रणाम करो तो तुम मेरे समीप आ जाओगे। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। सब धर्मों को छोड़कर केवल मात्र मेरी ही शरण में आओ। मैं सब पापों से तुम्हारी रक्षा करूंगा। शोक मत करो।"

इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को अपना अन्तिम उपदेश और आश्वासन प्रदान किया।

गीताकार ने इसे धर्मयुक्त संवाद कहा है और गीता को ज्ञान यज्ञ माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम मानसिक विचारों को देवत्व प्रदान करना चाहें तो गीता के ज्ञानयज्ञ का आश्रय लेना चाहिये। श्रद्धा और ईर्ष्या रहित भाव से ही इस ज्ञानयज्ञ का पूरा फल प्राप्त होता है।

इतना कह कर भगवान् ने अर्जुन से पूछा कि गीताज्ञान के सुनने से तुम्हारा मोह दूर हुआ या नहीं? इस पर अर्जुन ने निश्चित उत्तर दिया—"हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह जाता रहा और मुझे ठीक स्मृति प्राप्त हो गई। अब मैं सन्देहरहित हूँ और आपके वचन का पालन करूँगा।"

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र ने कहा—

१—"उस पवित्र रणभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर, युद्ध के लिये उत्कंठित मेरे और पांडु के पुत्रों ने, हे संजय, क्या किया ?"

संजय ने कहा—

२—"पांडवों की सेना को (युद्ध के लिये) व्यूह में सजी हुई देखकर राजा दुर्योधन ने आचार्य द्रोण के पास जाकर यह वचन कहा—

३—" हे आचार्य, पाण्डवों की इस महती सेना को, देखिए, जिसे आपके बुद्धिशाली शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न[1] ने व्यूहरूप में सजाया है।

४—"यहाँ युद्ध करने में भीम और अर्जुन जैसे शूरवीर बड़े धनुर्धर हैं—और भी, जैसे सात्यकि[2] युयुधान, विराट[3] और महारथी द्रुपद[4] हैं।

---

१ पांचाल राजा द्रुपद का पुत्र।

२ वृष्णिवंशी शिनिकुमार सत्यका पुत्र एक यादव वीर। सात्यकि पैत्रिक नाम और युयुधान उसका निजी नाम था।

३ मत्स्य देश का शत्रुदमन नामक राजा, इसकी पुत्री अभिमन्यु को ब्याही थी।

४ पांचाल देश का राजा यज्ञसेन जो महाराज पृषत् का पुत्र था।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

५—"धृष्टकेतु[५], चेकितान[६], वीर्यवान् काशिराज[७], पुरुजित् कुन्तिभोज[८] (कुन्ति जनपद का स्वामी) शिवि देश के राजा नरपुंगव शैव्य,[९]।

६—"विक्रमशील युधामन्यु[१०], वीर्यवान् उत्तमौजा[११], सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के (पाँच) पुत्र—सब ही महारथी हैं।

७—"हे द्विजों में श्रेष्ठ, फिर हमारे पक्ष के जो विशिष्ट योद्धा हैं उन्हें भी आप जानिए, वे मेरी सेना के नायक हैं। आपके याद कराने के लिए उन्हें गिनाता हूँ।

८—"आप स्वयं हैं, भीष्म और कर्ण हैं, एवं संघर्ष में विजयी होने वाले कृपाचार्य[१२] हैं। अश्वत्थामा, विकर्ण[१३] और उसी प्रकार सोमदत्त[१४] के पुत्र भूरिश्रवा हैं।"

९—"और भी अनेक शूर मेरे लिये अपने प्राणों का मोह छोड़ रहे हैं। वे सभी अनेक शस्त्रों से प्रहार करने में निपुण और युद्धकला में दक्ष हैं।"

---

५ चेदिराज शिशुपाल का पुत्र।

६ पाण्डवपक्ष का एक महारथी, जो वृष्णिवंशीय यादव था।

७ काशिदेश का राजा जो 'दीर्घजिह्व' नामक यादव के अंश से उत्पन्न था।

८ कुन्तिजनपद (ग्वालियर के पास वर्तमान कोतवार प्रदेश जहाँ कुमारी नदी है) का भोज या स्वामी। शूरसेन के राजा ने अपनी पुत्री पृथा कुन्तिभोज को गोद में दे दी थी। इसलिये वह कन्या कुन्ती कहलाई। कुन्तिभोज का पुत्र पुरुजित् कुन्ति का भाई हुआ जो पाण्डवों का मामा था। भोज कुन्ति कुल की उपाधि थी, कुन्तिभोज और पुरुजित् दो अलग व्यक्ति नहीं।

९ शिवि देश का राजा इसकी पुत्री देविका युधिष्ठिर को ब्याही थी।

१० पाञ्चाल देश का राजकुमार जो अर्जुन का चक्र रक्षक था।

११ पाञ्चालदेशीय योद्धा जो अर्जुन का दाहिना चक्र रक्षक था।

१२ गौतमगोत्रीय शरद्वान् का पुत्र।

१३ धृतराष्ट्र का पुत्र।

१४ कुरुवंशी महाराज प्रतीप का पौत्र एवं वाह्लीक का पुत्र।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

१०—"इस प्रकार भीष्म जिसकी रक्षा करते हैं, ऐसी मेरी सेना अपरिमित है, पर इनकी सेना जिसके रक्षक भीम हैं वह परिमित है।"

११—"अतएव अपने-अपने नियोग के अनुसार सब स्थानों पर आरूढ़ रहकर आप सब भीष्म की अवश्य रक्षा करें।"

१२—तब कुरु गोत्र के वृद्ध पितामह भीष्म ने जिनका प्रताप विख्यात था, दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से पहले सिंहनाद किया और फिर अपना शंख बजाया।

१३—उसके बाद शंख, भेरी (धौंसा), पणव (नगाड़ा), आनक (दुन्दुभि), गोमुख (तुरही) अकस्मात् बजने लगे और उनका भारी शोर उठ खड़ा हुआ।

१४—तब श्वेत घोड़ों से युक्त, बड़े रथ में बैठे हुए कृष्ण और अर्जुन ने अपने दिव्य शंख बजाए।

१५—कृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त और भीषण कर्म करने वाले भीम ने पौंड्र नामक शंख बजाया।

१६—कुन्ति के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय एवं नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाए।

१७-१८—बड़ा धनुष धारण करने वाले काशिराज ने, महारथी शिखण्डी ने, धृष्टद्युम्न, विराट एवं अपराजित सात्यकि ने, द्रुपद और द्रौपदी के पुत्रों ने, एवं सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु ने, हे राजन्! चारों ओर अपने-अपने शंख बजाए।

१९—उस घने घोष से आकाश और पृथ्वी गूंजने लगी और कौरवों के हृदय विदीर्ण हो गए।

२०—फिर कपिध्वज अर्जुन ने कौरवों को सज्जित देखकर, हथियार चलने की तैयारी के समय अपना धनुष उठाकर,

२१—हे राजन्, कृष्ण से यह कहा—हे कृष्ण, मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करो।

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।।२५।।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ।।२६।।

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।३२।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।

२२—पहले मैं युद्ध की इच्छा से आये हुए इन सबको देख लूं कि मुझे इस रण की हलचल में किनके साथ लड़ना है।

२३—जो यहाँ इस युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का भला चाहने के लिए इकट्ठे हुए हैं, उन लड़ाकों को मैं देखूं।

२४—हे भारत, अर्जुन के ऐसा कहने पर कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच वह श्रेष्ठ रथ स्थापित किया और,

२५—भीष्म, द्रोण और अन्य सब राजाओं के सामने ही उससे कहा—हे अर्जुन, यहाँ एकत्र हुए इन कुरुओं को देखो।

२६—वहाँ अर्जुन ने खड़े हुए पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र,

२७-२८—श्वशुर, और हितैषीजनों को दोनों सेनाओं के बीच में देखा। तब अर्जुन ने उन सब बन्धुओं को वहाँ सज्जित देखकर करुणा से भरकर यों कहा—हे कृष्ण, युद्ध में आये हुए इन अपने बान्धवों को देखकर,

२९—मेरे अंग मुरझाये जा रहे हैं और मुँह सूखा जाता है, मेरे शरीर में कँपकपी और रोमांच हो रहा है।

३०—गाण्डीव हाथ से छूटा जा रहा है और त्वचा जल रही है। मैं खड़ा नहीं हो पा रहा हूँ और मेरा मन घूम रहा है।

३१—हे केशव, मुझे उलटे शकुन दिखाई पड़ रहे हैं। युद्ध में स्वजनों को मारने से मुझे कल्याण नहीं दिखाई देता।

३२—हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता और न राज्य एवं सुख ही चाहता हूँ। हे गोविन्द, राज्य लेकर क्या होगा, भोग और जीवन भी किस काम के ?

३३—जिनके लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं वे ही प्राण और संपत्ति का मोह छोड़कर यहाँ युद्ध के लिए आ खड़े हुए हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

३४-३५—आचार्य, पुत्र, पिता, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले और संबन्धी सभी हैं।—हे मधुसूदन, पृथ्वी के राज्य के लिए तो क्या त्रिलोकी के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, चाहे ये मुझे ही क्यों न मारें।

३६—हे कृष्ण, कौरवों को मारकर हमें कौनसा सुख मिलेगा? इन अत्याचारियों को मारकर तो केवल पाप ही लगेगा।

३७—इसलिए अपने बान्धव कौरवों को हमें मारना उचित नहीं। हे कृष्ण, स्वजनों को मारकर हम क्यों कर सुखी होंगे?

३८—यद्यपि लोभ से विचार लुप्त हो जाने के कारण ये कुल के क्षय का दोष और मित्र से द्रोह करने का पाप नहीं समझ रहे हैं।

३९—पर हम इस पाप से अलग रहने का विचार क्यों न करें, क्योंकि हे कृष्ण! कुल के नाश से होनेवाला दोष हमें तो दिखाई पड़ रहा है।

४०—कुल का नाश होने पर कुलों के सनातन धर्म क्षीण हो जाते हैं। धर्म के नष्ट होने पर समस्त कुल को अधर्म दबा लेता है।

४१—हे कृष्ण, अधर्म के धक्के से जो कुलों की टेक हैं वे स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। हे कृष्ण, स्त्रियों के बिगड़ने से वर्णों का घोटाला हो जाता है।

४२—वर्णों की गड़बड़ी से कुल और कुल का नाश करने वाले दोनों नरक भोगते हैं। इनके पितर भी श्राद्ध क्रिया के लुप्त हो जाने से स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं।

४३—कुलघ्नों के कारण उत्पन्न वर्णसंकरकारी इन दोषों से, जाति धर्म और स्थायी कुल धर्म ढलक जाते हैं।

४४—हे कृष्ण, जिनके कुल धर्म नष्ट हो गए ऐसे मनुष्य निश्चय नरक में पड़ते हैं,—ऐसा हमने सुना है।

४५—हाय, हम भारी पाप करने पर उतारू हो गए हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से अपने ही जनों को मारने चले हैं।

४६—यदि हाथ में हथियार लिए हुए ये कौरव, हथियार त्यागकर बदला न लेने वाले मुझे युद्ध में मार भी दें, तो वह मेरे लिए अधिक हितकर होगा।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अर्जुनविषादो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

४७—यह कह कर अर्जुन रथ के खटोले पर बैठ गया। उसने अपना धनुष-बाण फेंक दिया और उसका मन शोक से व्याकुल हो गया।

ॐ तत्सत्। भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योग शास्त्र में कृष्ण-अर्जुन संवाद का अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।
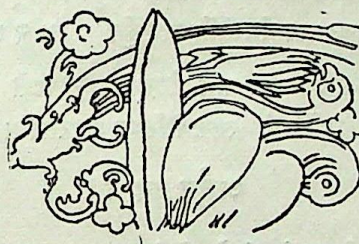
।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।। १ ।।

भगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। २ ।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। ३ ।।

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। ४ ।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।। ५ ।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।। ६ ।।

दूसरा अध्याय

संजय ने कहा—

१—उसे इस प्रकार करुणा से भरा हुआ और आँसुओं से डबडबाई आँखों से युक्त और दुःखी देखकर, कृष्ण ने यह कहा—

श्री भगवान् ने कहा—

२—हे अर्जुन, युद्ध के समय तुम्हें यह दुःख कैसे उत्पन्न हो गया ? यह अनार्यों के योग्य, नरक में ले जानेवाला और अपयश देनेवाला है।

३—हे अर्जुन ! नपुंसक मत बनो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हे शत्रुनाशक, क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को छोड़कर उठो।

अर्जुन ने कहा—

४—हे कृष्ण, मैं भीष्म और द्रोण को, जो मेरे लिए पूजनीय हैं, युद्ध में बाणों से कैसे मारूँ ?

५—ऐसे बहु सम्मानित गुरुओं को मारने से भीख माँगकर खा लेना इस लोक में अच्छा है। क्या अर्थलोभी इन गुरुओं को अब मारकर उनके रक्त से सने हुए भोगों का मैं भोग करूं ?

६—और हम यह भी नहीं जानते कि हम दोनों में कौन अधिक बलवान् है, अथवा हमारी जीत होगी या हार ? जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही कौरव सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वा धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

७—दीनता के दोष से मेरा अपना स्वभाव लुप्त हो गया है। क्या धर्म है इस विषय में भी मेरे चित्त में मोह है, इसलिए आप से पूछता हूँ। जो निश्चित कल्याण की बात हो वह मुझसे कहिए, मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण में आये हुए मुझ को उपदेश दीजिए।

८—इन्द्रियों को सुखानेवाला जो यह शोक है, वह मुझे हटता हुआ नहीं दिखाई देता, चाहे पृथ्वी का एकछत्र संपन्न राज्य या देवों का स्वामित्व भी मुझे मिल जाय।

संजय ने कहा—

९—शत्रुपीड़क अर्जुन कृष्ण से यों कहने के बाद, 'हे गोविन्द ! मैं युद्ध नहीं करूँगा' इतना कह कर चुप हो गया।

१०—हे भारत, दोनों सेनाओं के बीच में दुःखी होते हुए अर्जुन से कृष्ण ने हँसते हुए की भाँति कहा—

श्री भगवान् ने कहा—

११—जो शोक के योग्य नहीं, उनका तुम सोच करते हो। ऊपर से पंडिताउपन की बात छाँटते हो। सच्चे पंडित वे हैं जो मरे हुए और जीने-वालों का शोक नहीं करते।

१२—मैं कभी न हुआ होऊं ऐसा नहीं है। तुम और ये राजा ही पहले न रहे हों, ऐसा भी नहीं हैं। आगे भी हम नहीं होंगे, ऐसी बात भी नहीं। हम सब सदा से हैं और रहेंगे।

१३—जैसे प्राणी के इसी शरीर में बालपन, यौवन और बुढ़ापा आता है, वैसे ही दूसरी देह मिल जाती है। बुद्धिमान् को इससे मोह नहीं होता।

१४—हे अर्जुन, विषयों से इन्द्रियों के संयोग होने से सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख अनुभव होता हैं। ये आने-जाने वाले क्षणिक हैं। हे भारत, इन्हें सहलो।

१५—हे नरश्रेष्ठ, जिस सुख-दुःख में समान रहनेवाले धीर पुरुष को ये कष्ट नहीं पहुँचाते, वह अमृत सुख पाने के योग्य हो जाता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

१६—जो नहीं है वह कभी नहीं होता। जो है वह अनहोत नहीं होता। तत्त्व जानने वालों ने इन दोनों का मर्म समझा है।

१७—जिसने इस विश्व का फैलाव किया है, उसे अविनाशी समझो। उस अव्यय का नाश कोई नहीं कर सकता।

१८—नित्य आत्मा के शरीर अंतवाले कहे जाते हैं। वह नाशहीन और प्रभारहित है। हे भारत, यह जान कर युद्ध करो।

१९—जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसे मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही ठीक नहीं जानते। न यह मारता है और न मारा जाता है।

२०—न यह जन्म लेता है और न कभी मरता है। अथवा यह होकर फिर नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराण होने के कारण शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मारा जाता।

२१—जो इसे नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, हे अर्जुन, क्या ऐसा पुरुष किसी को मारने या मरवाने का कारण बन सकता है?

२२—जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये पहन लेता है, ऐसे ही देही आत्मा पुराने शरीरों को छोड़ता हुआ दूसरे नये शरीरों में चला जाता है।

२३—इसे हथियार नहीं काटते, इसे आग नहीं जलाती, इसे पानी गीला नहीं करता और न हवा सुखाती है।

२४—यह काटा नहीं जाता, यह जलता नहीं, भीगता और सूखता भी नहीं। यह नित्य सर्वव्यापी, स्थितिशील, अचल और सनातन है।

२५—यह अमूर्त है, यह अज्ञेय है, यह विकार शून्य कहा जाता है। इसलिए इसे ऐसा ही समझकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं।

२६—और, यदि तुम इस आत्मा को नित्य जन्म लेने वाला और नित्य मरने वाला मानते हो, तो भी हे दीर्घबाहु, तुम्हें इसके लिए शोक करना उचित नहीं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्त्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्त्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

२७—जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। जो मर गया, उसका जन्म लेना अवश्यंभावी है। इसलिए न टलनेवाली बात के लिए शोक करना तुम्हें उचित नहीं।

२८—प्राणियों का आरम्भ दिखाई नहीं देता। उनका बीच का अस्तित्व छिपा है। उनका अंत भी अव्यक्त है। उसमें शोक कैसा?

२९—कोई इस आत्मा को बड़ा अचरज समझता है; कोई इसके विषय में अचरज की सी बातें कहता है। कोई इसके विषय में अचरज की बातें सुनता है। पर कह-सुनकर भी इसे कोई जानता नहीं।

३०—हे भारत, यह देही आत्मा सब शरीरों में अमर है। इसलिए तुम्हें प्राणियों के विषय में शोक करना उचित नहीं।

३१—यदि अपने क्षात्रधर्म की ओर देखो तो भी तुम्हें डरना उचित नहीं। क्षत्रिय के लिए धर्मप्राप्त युद्ध से बढ़कर और कुछ हितकर नहीं।

३२—स्वर्ग का यह खुला हुआ, द्वार संयोग से ही पास आ गया है। हे अर्जुन, भाग्यवान् क्षत्रियों की ही ऐसे युद्ध से भेंट होती है।

३३—यदि तुम यह धर्मयुक्त युद्ध नहीं करोगे तो निज क्षात्रधर्म और यश दोनों खोकर पाप के भागी बनोगे।

३४—और लोग सदैव तुम्हारी निन्दा की बात कहते रहेंगे। सम्मानित के लिए अपयश मरने से भी अधिक है।

३५—महारथी लोग तुम्हें डर कर युद्ध से हटा हुआ मानेंगे। जिनकी दृष्टि में तुम कभी आदरयोग्य थे, अब हीनता प्राप्त कर लोगे।

३६—तुम्हारे वैरी तुम्हारे विषय में न कहने योग्य बहुत से कुवाच्य कहेंगे और तुम्हारे बल की निन्दा करेंगे। उससे अधिक दुःख कहो क्या होगा?

३७—यदि मर गए तो स्वर्ग पाओगे और जीत गए तो धरती का सुख भोगोगे। इसलिये हे अर्जुन, युद्ध का संकल्प करके उठो।

३८—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार, इन्हें एक सा मानकर युद्ध करो, तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धचा युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोद के ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धचसिद्धचोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

३९—यह मैंने तुमसे सांख्य मत की बात कही है। अब कर्मयोग का यह मत सुनो। हे अर्जुन, यह मत लेकर तुम कर्म के बंधन से छूट जाओगे।

४०—इस मार्ग में आरम्भ किए हुए कर्म का नाश नहीं होता और विघ्न भी नहीं है। इस धर्म का थोड़ा अंश भी मृत्यु के बड़े भय से बचाता है।

४१—हे अर्जुन ! इस मार्ग में एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। निश्चयहीन जनों के मत बहुत तरह के और असंख्य होते हैं।

४२—अनसमझ लोग ऐसी फूली-फूली बातें करते हैं, वे वेदवाद में लिप्त हैं और कहते हैं कि दूसरा कोई मत है ही नहीं।

४३—वे कामनाओं के लोभी हैं, और स्वर्ग में आसक्त हैं। वे दूसरा जन्म और कर्म का फल मिलने की मान्यता रखते हैं और स्वर्ग एवं ऐश्वर्य भोग के लोभ से विशेष प्रकार के यज्ञों को करने की बहुत बात कहते हैं।

४४—जो भोग और ऐश्वर्य के लोभी हैं, उनका मन उससे खिंच जाता है। उन्हें एकाग्रमनवाली निश्चयात्मक बुद्धि नहीं मिलती।

४५—वेदों का यज्ञीय विधान तीन गुणों का फेर है। हे अर्जुन, तुम तीन गुणों से ऊपर उठो। तुम सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य जीव तत्त्व में स्थित, एवं योग और क्षेम की चिन्ता से रहित आत्मसत्ता वाले हो।

४६—जब चारों ओर से जल की बहिया उमड़ आती है तब कुएँ से जितना काम चलता है उतना ही ब्रह्म का साक्षात्करनेवाले के लिए सब वेदों का प्रयोजन रह जाता है।[१]

४७—तुम्हारा वश कर्म पर है, फलों पर कभी नहीं। तुम कर्मफल के हेतु मत बनो और कर्मशून्य बन जाने का लोभ भी मत करो।

४८—हे अर्जुन, कर्मयोग का आश्रय लेकर और कर्मफल से निःसंग होकर कर्म करो। कर्म का फल मिलने और न मिलने में एक जैसे रहो। समत्व को ही योग कहते हैं।

---

१ तत्त्व वेद के शब्दों में नहीं अर्थ विज्ञान में है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

४९—बुद्धि योग की तुलना में केवल कर्म बहुत निकृष्ट है। इसलिए तुम ऐसी (निष्काम) बुद्धि का आश्रय लो। जो अपने को कर्म के फल का हेतु बनाते हैं, वे दयनीय हैं।

५०—जो इस बुद्धि को पा लेता है, वह अच्छे और बुरे कर्म की द्विविधा को छोड़ देता है। इसलिए कर्मयोग का आश्रय लो। कर्म करने की यह चतुराई ही योग है।

५१—ऐसी बुद्धि रखने वाले समझदार पुरुष कर्मफल का लोभ छोड़कर जन्म के बंधन से छूटकर मोक्ष पद पा लेते हैं।

५२—जब तुम्हारी बुद्धि मोह की कीचड़ के पार हो जायेगी, तब जितना तुमने सुना है और जो आगे सुनोगे, उस सब के द्वारा शान्ति प्राप्त कर लोगे।

५३—श्रुतियों के वचनों से भूली हुई तुम्हारी बुद्धि जब स्थिर हो जायेगी और मन एकाग्र होने से शान्त बनेगी, तब तुम योग का अनुभव करोगे।

अर्जुन ने कहा—

५४—हे कृष्ण, जिसकी बुद्धि स्थिर है, और जिसका मन एकाग्र है, उसकी पहचान क्या है? स्थिर मन वाले का बोलने, बैठने और चलने का ढंग क्या होता है?

श्री भगवान् ने कहा—

५५—हे अर्जुन, जब व्यक्ति मन में आई हुई सब इच्छाओं को हटा देता है और आत्मा के लाभ से अपने भीतर संतुष्ट हो जाता है, तब उसे शान्त बुद्धिवाला (स्थितप्रज्ञ) कहते हैं।

५६—दुःखों से जिसका मन निडर है और सुखों के लिए जिसकी इच्छा दूर हो गई है, आसक्ति, डर और रोष जिसके दूर हो गये हैं, उसे शान्त मन वाला (स्थितप्रज्ञ) मुनि कहते हैं।

५७—जो उस-उस इष्ट और अनिष्ट वस्तु के आ जाने पर सबमें आसक्तिशून्य बना रहता है, और जो न शुभ को चाहता है, न अशुभ से बैर करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

५८—जब पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को, तो उसकी बुद्धि शान्त कही जाती है।

५९—आहार न लेने वाले पुरुष के विषय हट जाते हैं। किन्तु विषयों को भोगने का रस तो आत्मा का साक्षात् होने से ही मिटता है।

६०—हे अर्जुन, समझदार पुरुष यत्न करता है, फिर भी मथ डालने वाली इन्द्रियाँ हठात् मन को अपनी ओर खींच ले जाती हैं।

६१—उन सबको वश में करके मुझ में मन लगाना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ वश में आ चुकी हैं, उसी का मन शान्त है।

६२—जो पुरुष विषयों की बात सोचता है, उसका मन उनमें लग ही जाता है। मन लग जाने से इच्छा पैदा होती है। इच्छा की अपूर्ति से क्रोध उमड़ता है। क्रोध आने से बुद्धि पर अंधेरा (संमोह) छा जाता है। संमोह से कर्तव्य के प्रति स्मृति लुप्त हो जाती है।

६३—स्मृति के लोप से बुद्धि काम नहीं देती। बुद्धि के अपना काम छोड़ देने से व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

६४—जो इन्द्रियों के राग और द्वेष छुड़ा कर उन्हें अपने वश में लाकर विषयों का सेवन करता है वह आत्मज्ञानी आनंद को प्राप्त होता है।

६५—आनन्द मिलने से उसके सब दुःखों की हानि हो जाती है। जिसके चित्त में आनंद भर जाता है उसका मन भी तत्काल शान्त बन जाता है।

६६—योगरहित की बुद्धि काम नहीं देती। योगरहित के मन में उच्च भावना भी नहीं रहती। आत्मभावना के बिना शान्ति नहीं और शान्ति हीन को सुख कहाँ ?

६७—यदि मन विषयों में विचरते हुए इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है, तो वह बुद्धि को ऐसे खींच ले जाता है जैसे वायु जल में डोंगी को खींच ले जाती है।

६८—इसलिए हे दीर्घबाहु, जिसने सब ओर से अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक लिया है, उसीकी बुद्धि स्थिर है।

६९—और सब प्राणी जहाँ सोते हैं, वहाँ आत्मसंयमी जागता है। जहाँ अन्य प्राणी जागते हैं, आत्मदर्शी मुनि के लिए वहाँ रात है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

७०—जैसे चारों ओर से उमड़ते हुए जल-प्रवाह समुद्र में भर जाते हैं पर समुद्र की मर्यादा अचल रहती है, ऐसे ही जिसके अचल मन में सब कामनायें आती हैं वही शान्ति पाता है, कामनाओं का लोभी नहीं ।

७१—जो पुरुष सब कामनाओं को हटाकर निष्काम रहता है और मैं-मेरे के भाव से बचा रहता है उसे शान्ति मिलती है।

७२—हे अर्जुन! ब्रह्म भाव में आए हुए मन की यह ब्राह्मी स्थिति है। इसे पा लेने पर मोह नहीं होता। अंत समय में ऐसी बुद्धि बनी रहे तो ब्रह्म पद प्राप्त हो जाता है।

ॐ तत् सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।
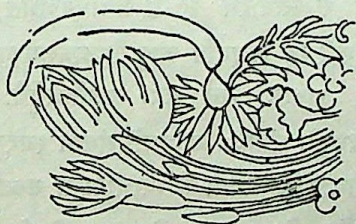
अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१—हे कृष्ण, यदि कर्म करने की तुलना में स्थित प्रज्ञा बढ़कर है तो फिर हे केशव, युद्ध के घोर काम में आप मुझे क्यों लगा रहे हैं ?

२—मिली-जुली सी बात कहकर आप मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हैं। निश्चय करके एक बात कहिए, जिससे मेरा भला हो।

श्री भगवान् ने कहा—

३—हे अर्जुन, मैं पहले बता चुका हूँ कि इस लोक में दो प्रकार के मार्ग हैं। सांख्य वादियों का ज्ञानयोग है और कर्मवादियों का कर्मयोग है।

४—कामों को न करने से कोई निष्कर्म रहने का फल नहीं पाता, और न संन्यास ले लेने से ही कोई सिद्धि पा लेता है।

५—बिना कर्म किए हुए कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न तीन गुणों के कारण सबको हठात् कर्म करना ही पड़ता है।

६—कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों को जो मूर्ख सोचता रहता है, वह आचार का दम्भी है।

७—हे अर्जुन, जो मन से इन्द्रियों को रोक कर कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है वह निस्संग व्यक्ति औरों से अच्छा है।

८—तुम अपने लिए निश्चित कर्म करो, क्योंकि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है। कर्म के बिना शरीर के लिए जीविका का भी प्रबन्ध नहीं हो सकता।

९—यज्ञ भाव से किए गए कर्म के अतिरिक्त, यह लोक-कर्म बंधन का कारण है। हे अर्जुन, आसक्ति छोड़कर यज्ञ के लिए ही कर्म करो।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

१०—पूर्वकाल में प्रजापति ने सृष्टि-यज्ञ के अन्तर्गत प्रजाओं को उत्पन्न करके कहा—तुम इस यज्ञ के द्वारा बढ़ो। यह तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करेगा।

११—तुम यज्ञ से देवों को तृप्त करो और तब वे देव तुम्हें तृप्त करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करने से तुम्हारा अत्यंत हित होगा।

१२—देवता यज्ञ से तृप्त होकर, तुम्हें मनचिते भोग देंगे। उनसे पाए हुए भोगों को जो उन्हें अपण के विना भोगता है वह चोर है।

१३—जो सज्जन यज्ञ से बचे हुए का भोग करते हैं, वे सब पापों से बच जाते हैं। जो पापी केवल अपने लिए अन्न रांधते हैं, वे पाप ही खाते हैं।

१४—अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं। वृष्टि-मेघों से अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञ से मेघ बनते हैं, और कर्म करने से यज्ञ होता है।

१५—यज्ञ-कर्म को वेद-ब्रह्म से उत्पन्न हुआ समझो। वेद अविनाशी अक्षर-ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए सर्वव्यापी अक्षर ब्रह्म नित्य सृष्टि यज्ञ पर अधारित है।

१६—इस प्रकार चलाए हुए चक्र का जो पालन नहीं करता उसका जीवन पाप से भरा है और वह इन्द्रियों में लिप्त है। हे अर्जुन, उसका जीना व्यर्थ है।

१७—जो मनुष्य आत्मा में प्रीति रखता है, आत्मा के वैभव से तृप्त रहता है, एवं आत्मा संबंधी कार्यों से संतुष्ट रहता है उसके लिए बाहरी कुछ कर्तव्य नहीं है।

१८—उसे न कुछ करने से प्रयोजन है और न नहीं करने से। और न प्राणियों पर उसके किसी काम का अटकाव रहता है।

१९—तुम निस्संग रह कर सदा कर्तव्य कर्म का आचरण करते जाओ। असंग भाव से कर्म करता हुआ मनुष्य परब्रह्म को पा लेता है।

२०—जनक आदि राजर्षि कर्म से ही पूर्ण सिद्धि को प्राप्त हो गए। लोक-संग्रह की ओर देखते हुए भी कर्म करना उचित है।

२१—उत्तम पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी वैसा ही करते हैं। वह जैसा आदर्श रख देता है, लोग भी उसी के पीछे चलते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२२॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

२२—हे अर्जुन, मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी करने को शेष नहीं है। और कुछ ऐसा भी पाना नहीं है जो मिला हुआ न हो, फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ।

२३—कहीं यदि आलस्यहीन होकर मैं कर्म न करता रहूँ तो हे अर्जुन, चारों ओर लोग मेरे ही मार्ग पर चलने लगेंगे।

२४—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक नष्ट हो जाँयगे। तब मैं गड़बड़ी फैलाने वाला और लोगों के नाश का कारण बन जाऊँगा।

२५—हे अर्जुन, मूर्ख लोग कर्मों में लिप्त होकर जैसे उन्हें करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोकसंग्रह की इच्छा से निस्संग रहकर उन्हें करें।

२६—कर्मों में लगे हुए जो मंद बुद्धि लोग हैं, उन्हें कर्म से हटाकर उनकी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करना चाहिए। विद्वान् युक्त भाव से स्वयं सब कर्म करता हुआ दूसरों को भी उनमें लगता रहे।

२७—सब कर्म प्रकृति के सत्त्व, रज, तम गुणों के कारण कराए जा रहे हैं। मूढात्मा अहंकार से समझता है कि मैं करनेवाला हूँ।

२८—हे दीर्घबाहु, तीन गुण और उनके अनुसार होने वाले कर्मों का रहस्य जो जानता है वह समझ जाता है कि प्रकृति के गुण ही मनुष्यों के गुणानुसारी कर्मों में प्रकट होते हैं, इसलिए कर्मों में वह आसक्त नहीं होता।

२९—प्रकृति के गुण जिनके मन पर छाए हुए हैं वे गुणों में और कर्मों में लगे रहते हैं। ऐसे अधकचरी समझ वाले मूर्खों को सर्वज्ञ व्यक्ति उनके मार्ग से हटाये नहीं।

३०—आत्मज्ञान युक्त चित्त से मुझ ईश्वर में सब कर्मों का त्याग करके, आशाहीन और ममताहीन होकर बिना शोक के युद्ध करो।

३१—जो मनुष्य मेरे इस मत पर सदा चलते हैं वे श्रद्धा से युक्त होकर और ईर्ष्या से बचते हुए सब कर्मों से छूट जाते हैं।

३२—जो इससे द्वेष रखते हुए इस मत पर नहीं चलते, वे सर्वज्ञ होते हुए भी मूर्ख हैं। उन दुर्बुद्धियों को नष्ट हुआ समझो।

३३—ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुरूप ही कर्म करता है। सब प्राणी स्वभाव से ही चलते हैं। बल प्रयोग क्या कर सकता है ?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

३४—इन्द्रिय का इन्द्रिय के विषय में या तो राग होता है या द्वेष। अपने को उनके अधीन न करे। वे दोनों (इन्द्रियाँ और विषय) मनुष्य के शत्रु हैं।

३५—अपना गुणहीन धर्म (कर्तव्य) भी अधिक सफल जचनेवाले परधर्म से बढ़ कर है। स्वधर्म में मृत्यु भी अच्छी है। पराया धर्म भय का कारण होता है।

अर्जुन ने कहा--

३६—हे कृष्ण, इच्छा न करते हुए भी हठात् खींचे हुए की तरह मनुष्य किस की प्रेरणा से पाप कर बैठता है?

श्री भगवान् ने कहा--

३७—यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह बहुत भोग चाहता है और बड़ा पापी है। इस जीवन में इसे ही शत्रु समझो।

३८—जैसे आग धुंए से ढक जाती है और शीशा मैल से,जैसे गर्भ थैली से ढका रहता है, वैसे ही इस काम-क्रोध रूपी शत्रु से मनुष्य का मन ढक जाता है।

३९—हे अर्जुन, यह सदा का बैरी काम ज्ञानी के ज्ञान को भी ढक देता है। यह कभी न तृप्त होने वाली आग है।

४०—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसका स्थान कहा गया है। इनके द्वारा यह मनुष्य को घेर कर उसके ज्ञान को मलिन कर देता है।

४१—हे अर्जुन, इसलिए तुम सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके इस पापी को हटाओ, क्योंकि यह ज्ञान और विज्ञान दोनों का नाश कर डालता है।

४२—इन्द्रियाँ शरीर से ऊपर कही गई हैं। इन्द्रियों से ऊँचा मन है। मन से ऊँची बुद्धि है। जो बुद्धि से परे है वह आत्मा है।

४३—इस प्रकार बुद्धि से ऊपर आत्मा को जान कर और अपने आप को अपनी शक्ति से वश में करके कामरूपी दुर्जय शत्रु को नष्ट करो।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन संवाद का कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

चौथा अध्याय

श्री भगवान् ने कहा--

१—पूर्व काल में मैंने यह योग विवस्वान् को बताया था। विवस्वान् ने मनु से कहा। मनु ने इक्ष्वाकु को समझाया।

२—यों पीढ़ी दर पीढ़ी आते हुए इसे रार्जाष लोग जानते आए हैं। हे अर्जुन, बहुत दिनों से वह योग इस लोक में लुप्त हो गया था।

३—आज मैंने वह पुराने समय का योग फिर तुमसे बताया है। तुम मेरे भक्त और सखा हो। यह रहस्य सबसे उत्तम है।

अर्जुन ने कहा—

४—आप का जन्म पीछे हुआ। विवस्वान् का जन्म पहले हुआ। मैं यह कैसे समझूं कि आपने ही पहले बताया था?

५—हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ। हे परंतप, तुम नहीं जानते।

६—यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, मेरा स्वरूप अव्यय है और मैं सब प्राणियों का ईश्वर हूँ, फिर भी मैं अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया शक्ति से जन्म धारण करता रहता हूँ।

७—हे भारत, जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म उठ खड़ा होता है, तब तब मैं स्वयं जन्म लेता हूँ।

८—सज्जनों की रक्षा के लिए, कुकर्मियों के नाश के लिए, और धर्म की स्थापना के लिए मैं समय-समय पर उत्पन्न होता हूँ।

९—हे अर्जुन, मेरे ईश्वरीय जन्म और कर्म को जो इस प्रकार ठीक-ठीक समझता है, वह यह शरीर छोड़ने पर फिर जन्म नहीं लेता और मुझमें ही मिल जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

१०—राग, भय और क्रोध से रहित अनेक लोग मेरे साथ एकात्म भाव से मेरा आश्रय लेकर, ज्ञान रूपी तप से शुद्ध चित्त होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गये।

११—हे अर्जुन, जो जिस भाव से मेरी शरण में आता है, उसे मैं भी वैसे ही मिलता हूँ। किसी ओर से आते हुए भी, मनुष्य मेरे ही मार्ग पर आ जाते हैं।

१२—उन-उन कर्मों का फल चाहते हुए मनुष्य देवताओं की पूजा में मन लगाते हैं। पर इस मनुष्य-लोक में हम देखते हैं कि कर्म की फल-सिद्धि तो तत्काल मिलती है।

१३—मैंने गुण और कर्म के भेदों के अनुसार चार वर्णों का समूह रचा है। मुझे ही अव्यय रूप में उसका रचने वाला और नाश करने वाला जानो।

१४—कर्मों का लेप मेरे ऊपर नहीं चढ़ता और न मुझे कर्म के फल की चाह है। जो मेरे इस स्वरूप को जान लेता है वह भी कर्मों से नहीं बँधता।

१५—इस प्रकार के ज्ञान से पूर्वकालीन मोक्षार्थियों ने भी कर्म किया। इसलिए तुम भी कर्म करो, क्योंकि पहले पूर्वजों ने ऐसा किया है।

१६—कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में विद्वान् भी भुलावे में पड़ जाते हैं। इसलिए मैं तुम से कर्म की व्याख्या करूँगा जिसे जानकर तुम पाप से छूट जाओगे।

१७—कर्म को समझना चाहिए। विपरीत कर्म को भी समझना चाहिए। कर्म न करने के तत्त्व को भी समझना चाहिए। कर्म शास्त्र का मर्म दुर्बोध है।

१८—जो कर्म करने में ही अकर्म के रस का अनुभव करता है, जो कर्म रहित अवस्था में भी कर्म होता हुआ देखता है, वही मनुष्यों में पण्डित है, वही संतुलित है और वही भरपूर कर्म करने वाला है।

१९—जिसके सब कार्य कामनाओं के संकल्प से ऊपर उठ जाते हैं वही ज्ञानरूपी अग्नि से अपने कर्मों को जला डालता है। उसे ही चतुर लोग पंडित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

२०—कर्म फल में आसक्ति छोड़कर जो सदा संतुष्ट बन गया है और जो किसी के आश्रय का इच्छुक नहीं रहा, वह कर्म करने में लगा हुआ भी कुछ नहीं करता।

२१—जिसने आशाएँ जीत लीं, अपने चित्त को वश में कर लिया और सब तरह का स्वामित्व भी जिसने छोड़ दिया, वह केवल शरीर से कर्म करता है, उस कर्म का मैल उसे नहीं लगता।

२२—जो संयोग से अपने आप होने वाले लाभ से प्रसन्न रहता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व से ऊपर उठ गया है, ईर्ष्या रहित है, जो कर्म का फल मिलने या न मिलने पर सम भाव रखता है, वह कर्म करके भी उससे बँधता नहीं।

२३—जो संगरहित, मुक्त और ज्ञान में मन लगाकर यज्ञ भाव से ही सब कर्म करता है, वह बंधन मुक्त हो जाता है।

२४—जिसके लिये ब्रह्म ही अर्पण है, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्म की अग्नि में ब्रह्म ही हवन करने वाला है, ऐसा मनुष्य ब्रह्म में कर्म की एकाग्रता पा लेने पर कर्म करके भी ब्रह्म को ही पाता है।

२५—कोई योगी अधिदैवत धरातल पर ही इस विश्व को यज्ञ रूप में देखते हैं। कोई यज्ञ से यज्ञ का यजन ब्रह्मरूप अग्नि में मानते हैं। (ब्रह्म यज्ञ से अधिदैवत यज्ञ की ओर संकेत है, यज्ञेन यज्ञ से अध्यात्म की ओर।)

२६—कोई कान आदि रूप इन्द्रियों के भोग रस को संयम की आग में तपाकर हवन करते हैं, और कोई शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँच विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में डालकर उनका यज्ञ करते हैं, अर्थात् विषयों को भोगते हैं। (पहला विषयों को नितान्त छोड़ने का मार्ग है, दूसरा उन्हें इन्द्रियों की मर्यादा में स्वीकार करने का।)

२७—कोई इन्द्रियों के सब बाह्य व्यापारों को और कोई प्राण की चेष्टाओं को, वश में किय हुए आत्मा की अग्नि में, जो ज्ञान से प्रज्वलित होती है, हवन करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

२८—कोई भौतिक द्रव्यों से यज्ञ करते हैं। कोई तपस्या के रूप में यज्ञ करते हैं। कोई योग साधन के रूप में यज्ञ करते हैं। कोई वेदों के स्वाध्याय से ज्ञान प्राप्ति का यज्ञ करते हैं। इस प्रकार यति लोग अपने-अपने व्रत (या साधना मार्गों) को तीक्ष्ण वनाते हैं।

२९—कोई अपान में प्राण की आहुति डालते या पूरक साधते हैं। कोई प्राण में अपान को डालकर रेचक साधते हैं। कोई प्राण अपान दोनों की गति रोककर कुम्भक प्राणायाम करते हैं।

३०—कोई भोजन की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म करके उपवास से प्राण की शक्ति को अपने भीतर के प्राण में ही मिलाते हुए यज्ञ करते हैं। ये सब यज्ञ के किसी न किसी अंग को जानते हैं और यज्ञ के द्वारा अपने मलों को विशुद्ध करते हैं।

३१—यज्ञ से जो अपने लिए बच रहे उस अमृत का भोग करने वाले सनातन ब्रह्म की सत्ता में लीन हो जाते हैं। हे अर्जुन, यज्ञ भाव से शून्य मनुष्य के लिए इस लोक का व्यवहार भी ठीक नहीं बन पाता, परलोक का तो हो ही कैसे सकता है ?

३२—इस प्रकार के अनेक यज्ञ वेदों में (ब्रह्म मुख) कहे गये हैं। वे सब कर्म से ही सिद्ध होते हैं, यज्ञ और कर्म के इस संबन्ध को जान कर ही तुम मुक्त हो सकोगे।

३३—ऊपर के यज्ञों में द्रव्यमय भौतिक यज्ञ से ज्ञान यज्ञ अधिक हितकर हैं। हे अर्जुन, सब कर्म वहाँ समाप्त हो जाता है जहाँ से ज्ञान आरम्भ होता है।

३४—वह ज्ञान ज्ञानियों को प्रणाम कर, उनसे प्रश्न पूछने से और उनकी सेवा करके प्राप्त करो। तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे।

३५—हे अर्जुन, इस ज्ञान को पाकर तुम फिर ऐसे मोह या भुलावे में न पड़ोगे और सब प्राणियों को अपनी आत्मा का वैसा ही अंग समझने लगोगे जैसे वे मेरे अंग हैं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैन वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ब्रह्मयज्ञप्रशंसा नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

३६—यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पापी हो तो भी ज्ञान की इस नौका पर बैठ कर पाप समुद्र के पार उतर जाओगे।

३७—हे अर्जुन, जैसे भभकी हुई आग ईंधन को जला डालती है वैसे ही ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।

३८—इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। यदि व्यक्ति कर्म योग सिद्ध कर लेता है तो स्वयं ही समय पर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है।

३९—जिसके मन में श्रद्धा है वह इस ज्ञान तक पहुँच जाता है। उसे उसके लिए प्रयत्नशील (तत्पर) और इन्द्रिय संयमी होना चाहिए। ज्ञान पाकर शीघ्र ही वह परम शान्ति प्राप्त कर लेता है।

४०—जो मूर्ख है, जिसमें श्रद्धा भी नहीं, जिसका मन संशय से भरा है वह तो नष्ट ही हो जाता है। जिसके मन में द्विविधा है वह न इस लोक को सुधार पाता है, न परलोक को, और न उसे सुख ही मिलता है।

४१—हे अर्जुन, कर्मों का बंधन उसे नहीं लगता जिसने कर्म योग के मार्ग से कर्मफल के संन्यास की युक्ति जान ली है (अर्थात् कर्मों में आसक्ति रहित है), जिसने कर्म के यथार्थ ज्ञान से अपने मन का संशय मिटा दिया है, और जिसने आत्म संयम का मार्ग अपना लिया है।

४२—इसलिए हे अर्जुन, अज्ञान से उठा हुआ जो संशय मन में भर गया है उसे आत्मा के ज्ञान की कटारी से काट कर कर्मयोग को अपनाओ।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन संवाद का ब्रह्मयज्ञप्रशंसा नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः ।।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगच निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।। २ ।।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।। ३ ।।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ४ ।।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५ ।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।। ७ ।।

योग युक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। ७ ।।

पांचवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१—कभी आप कर्मों के संन्यास का और कभी कर्मयोग का उपदेश करते हैं। इन दोनों में जो एक निश्चय रूप से हितकर हो उसे मुझसे कहिए।

श्रीभगवान् ने कहा—

२—संन्यास और कर्मयोग दोनों ही हितकर हैं। इन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग बढ़कर है।

३—जो न द्वेष करता है और न कुछ इच्छा करता है वह सदा कर्म-संन्यासी ही है। द्वन्द्वों से छूटा हुआ ऐसा महानुभाव पुरुष सहज ही बन्धन से छूट जाता है।

४—बालबुद्धि मनुष्य सांख्य और कर्मयोग को अलग कहते हैं, जो पंडित हैं वे ऐसा नहीं मानते। यदि इन दोनों में से एक का भी ठीक सहारा लिया जाय तो दोनों का फल पा लिया जाता है।

५—सांख्य मार्ग पर चलने वाले जिस स्थान पर पहुंचते हैं उसे ही कर्म-योगी भी प्राप्त करते हैं। जो सांख्य (कर्म-संन्यास) और योग (कर्म योग) को एक जैसा देखता है उसी की दृष्टि ठीक है।

६—हे दीर्घबाहु, बिना कर्मयोग के कर्मसंन्यास की सफलता कठिन है। कर्मयोग को अपनाकर योगी भी कर्मसंन्यासी मुनि की तरह शीघ्र ब्रह्म को पा लेता है।

७—कर्मयोग से युक्त व्यक्ति अपनी आत्मा या मनोभावों को विशुद्ध करके और आत्मा (मन) एवं इन्द्रियों को वश में करके, सब प्राणियों की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को मिला देता है। वह कर्म करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता।

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

८-९—कर्म से युक्त होकर उसके तत्त्व को समझता हुआ ऐसा समझे कि मैं देखते हुए, सुनते हुए, त्वचा से स्पर्श करते हुए, सूंघते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, श्वास लेते हुए, बोलते हुए, विसर्जन करते हुए, लेते हुए, जागते और सोते हुए भी कुछ नहीं करता, इन्द्रियाँ ही अपने विषयों में विचरती हैं।

१०—जो सब कर्म ब्रह्म को सौंप कर और आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, उस पर पाप का लेप वैसे नहीं चढ़ता जैसे कमल के पत्ते में पानी नहीं लगता।

११—शरीर से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से कर्मयोगी आसक्ति छोड़कर एक मात्र आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते रहते हैं।

१२—कर्मयोगी कर्म के फल की आसक्ति छोड़कर निश्चल शान्ति प्राप्त करता है। किन्तु जो कर्मयोगी नहीं है वह कामनाओं के अधीन हो फल की आसक्ति रखने से कर्म के बन्धन में पड़ता है।

१३—अपने को वश में रखने वाला सब कर्मों का मन से संन्यास करके सुख पाता है। नौ इन्द्रियों के द्वार वाले इस शरीर में वह न स्वयं कुछ करता है और न कुछ कराता है।

१४—ईश्वर किसी के लिए न कर्म का विधान करता है न कर्त्तापने का, और न कर्म के साथ उसके फल का संयोग ही रचता है। कौन सा कर्म कौन करे, किस लिए करे, इसमें अपने अपने भाव (स्वभाव) की प्रवृत्ति ही कारण है।

१५—ईश्वर न किसी का पाप लेता है और न पुण्य। अज्ञान ने ज्ञान को ढक रक्खा है। उसी अज्ञान से प्राणी भ्रम में पड़ जाते हैं।

१६—जो ज्ञान से अपने उस अज्ञान को हटा देते हैं उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उनके भीतर ईश्वर को प्रकाशित कर देता है।

१७—ईश्वर में बुद्धि लगाकर, ईश्वर के साथ आत्मा को संयुक्त कर, ईश्वर में विश्वास रखकर, ईश्वर परायण होकर, ऐसे व्यक्ति ज्ञान से अपना पाप धो लेने पर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

१८—विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में पण्डित समदर्शी होते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा. दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

१९—जिनका मन समत्व भाव प्राप्त कर लेता है वे इसी जीवन में जन्म और मरण के चक्र को जीत लेते हैं। सब दोषों से रहित ब्रह्म भी सम भाव वाला है। अतएव वे ब्रह्म भाव में ही पहुँच जाते हैं।

२०—अपनी प्रिय वस्तु प्राप्तकर प्रसन्न नहीं होना चाहिए और अप्रिय वस्तु पाकर बुरा न मानना चाहिए। जिसकी बुद्धि निश्चल है, जिसमें मोह नहीं है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में स्थित होता है।

२१—इन्द्रियों के विषयों में आत्मा को असक्त रखने वाला जिस सुख का अपने भीतर अनुभव करता है, कर्मयोग में आत्मा को लगाने वाला व्यक्ति उसी सुख को पाता है।

२२—इन्द्रियों का विषयों के साथ मेल होने से जो भोग मिलते हैं वे दुःख के ही कारण हैं। ऐसे भोग आदि और अन्त होने से क्षणिक हैं, उनमें बुद्धिमान् लिप्त नहीं होता।

२३—जो शरीर छोड़ने से पूर्व ही काम और क्रोध से उत्पन्न वेगों को वश में करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है वह मनुष्य योगी और सुखी होता है।

२४—जो अपने भीतर सुख का अनुभव करता है, जो अपनी आत्मा में ही रमता है, और जिसके भीतर ज्ञान का प्रकाश भर गया है, वह ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मसुख पाता है।

२५—विषयों का पाप हट जाने से वे पुरुष ब्रह्मसुख प्राप्त करते हैं, जिनके संदेह दूर हो गए हैं, जो आत्मा को वश में कर लेते हैं और जो सब प्राणियों के हित में लगे हैं।

२६—काम और क्रोध से रहित एवं चित्त को वश में रखने वाले यतियों को आत्म ज्ञान द्वारा अपने चारों ओर भरे हुए ब्रह्मसुख का अनुभव होता है।

२७-२८—बाह्य विषयों को अलग रखकर और दृष्टि को भौहों के बीच टिका कर, नासिका में श्वास-प्रश्वास के रूप में आने-जाने वाले प्राण और अपान को संतुलित करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके मोक्ष का इच्छुक मुनि, जो अपने आपको इच्छा, भय और क्रोध से मुक्त कर लेता है, जीवन-मुक्त हो जाता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

२९—यज्ञ और तपों के फल का भोक्ता मैं हूँ। मैं ही सब प्राणियों का ईश्वर हूँ। मैं सब भूतों का मित्र हूँ। ऐसे मुझे जो जान लेता है वह शान्ति पाता है।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

छठा अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—

१—जो कर्म के फल में आसक्ति न रखकर अपना कर्त्तव्य करता है वह कर्मसंन्यासी और कर्मयोगी दोनों है, अग्न्याधान छोड़ देने वाला और कम छोड़ देने वाला नहीं।

२—हे अर्जुन, जिसे कर्मसंन्यास माना जाता है उसे तुम कर्मयोग समझो। जिसने कामना का त्याग नहीं किया वैसा कोई भी कर्मयोगी नहीं होता।

३—जो मुनि कर्मयोग के मार्ग पर चलना चाहता है उसके वैसा होने में कर्म ही कारण है। जब वह कर्मयोग के उस मार्ग पर अपने को स्थापित कर लेता है तब उसकी उस सिद्धि में मन की शान्ति प्रधान कारण है, अर्थात् कर्मयोग के मार्ग का आरम्भ कर्म करने से है और अन्त मन की पूर्ण शान्ति में है।

४—सब संकल्पों से ऊपर उठ जाने वाला व्यक्ति जब इन्द्रियों के विषयों और कर्मों में आसक्त नहीं होता तो कर्म योग में पहुँचा हुआ कहा जाता है।

५—अपने आप अपने आप को ऊँचा उठाना चाहिए। आप के प्रति आप ने हीन भावना न करनी चाहिए। आत्मा ही आत्मा का मित्र है, आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

६—उसका आत्मा अपना मित्र है जिसने स्वयं अपने से अपने को जीत लिया है। जिसने अपना आत्मा नहीं जीता वरन् उससे शत्रुता की उसका आत्मा भी उससे शत्रु जैसा व्यवहार करता है।

७—जिसने अपने आपको वश में किया, जिसका मन शान्त है, उसका ईश्वर के साथ संबन्ध भी सुलझ जाता है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान इनमें वह स्थिर रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

८—ज्ञान और विज्ञान से अपने आपको वश में कर लेने पर कूटस्थ आत्मा इन्द्रियों को भी वश में कर लेता है। जो कर्मयोगी मिट्टी के ढेले और सोने की डली को एक समान समझने लगता है वही सच्चा कर्मयोगी है।

९—सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, तटस्थ, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धु, साधु और पापी इनके साथ व्यवहार में जिसकी बुद्धि एक जैसी रहती है वह सराहनीय है।

१०—योगी एकान्त में आसन लगाकर अपने आपको ध्यान में लगावे। वह एकान्तसेवी अपने चित्त और आत्मा को संयम में रखने वाला, किसी से आशा न करने वाला और संग्रह न करने वाला बने।

११-१२—पवित्र स्थान में अपने स्थिर चित्त को रोक कर, न बहुत ऊँचे न बहुत नीचे आसन पर कुशा, मृगचर्म और वस्त्र बिछाकर, चित्त, इन्द्रियों और कर्मों का संयम करके, मन को एकाग्र करके,आसन पर बैठकर आत्मा को मलों से शुद्ध करने के लिए योग साधन करे।

१३-१४—स्थिर होकर शरीर, ग्रीवा और सिर को एक सीध में निश्चल रखते हुए, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुए, इधर-उधर दृष्टि न डालकर, आत्मा को शान्त बनाकर, भयरहित होकर, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके, मन का संयम करके, मुझ में चित्त लगाकर, मेरा ध्यान करते हुए योगयुक्त बने।

१५—इस प्रकार सदा अपने आप को योग में लगाता हुआ संयत मन-वाला योगी मोक्ष सुख की जो परम शान्ति ईश्वर में हैं उसे पा लेता है।

१६—हे अर्जुन, जो बहुत खाता है उसका योग साधन सफल नहीं होता और जो बिल्कुल नहीं खाता, उसका भी नहीं होता; जो बहुत सोता है उसका भी नहीं और जो बहुत जागता है उसका भी नहीं।

१७—जिसके आहार और विहार संतुलति हों, कर्मों में जिसकी प्रवृत्ति संतुलित हो, जिसका सोना और जागना संतुलित हो, उसके लिए योग दुःख हटाने वाला होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत् तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

१८—जब वश में किया हुआ मन अपने आप में ही ठहर जाता है और सब इच्छाओं से निस्पृह बन जाता है तब उसे योगी या युक्त कहते हैं।

१९—जैसे बिना वायु के स्थान में रक्खा हुआ दीपक टिमटिमाता नहीं, वही उपमा एकाग्र चित्त होकर योग साधने वाले योगी के मन की होती है।

२०—योग सेवन से वशीभूत मन जहाँ रमता है, जहाँ आत्मा से आत्मा का दर्शन करता हुआ स्वयं अपनी आत्मा में तृप्त हो जाता है,

२१—जो परम अतीन्द्रिय सुख है उसे मन में लाकर जब योगी उसका अनुभव करता है तब उसमें स्थित होकर फिर उसके वास्तविक रूप से विचलित नहीं होता।

२२—जिस परम सुख को पाकर फिर और कोई दूसरा लाभ उससे अधिक नहीं जान पड़ता, जिसमें स्थित हो जाने पर उसे भारी दुःख भी नहीं डिगाता,

२३—उसे ही दुःख के संयोग और वियोग से रहित योग समझो। अपने चित्त में किसी प्रकार का दुःख किए बिना उसी योग की साधना करनी चाहिए।

२४—संकल्प से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं को पूरी तरह दूर करके और मन से ही इन्द्रियों के समूह को चारों ओर से वश में करके,

२५—धैर्य से स्थिर की हुई बुद्धि से धीरे-धीरे अपने आप को अलग हटाना चाहिए। मन को आत्मा में स्थिर करके किसी तरह की चिंता न करनी चाहिए।

२६—चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ से उसे रोककर अपने भीतर ही वश में लाना चाहिए।

२७—रजोगुण के हट जाने से पाप रहित बने हुए और ब्रह्मभाव में आए हुए योगी को उत्तम सुख मिलता है।

२८—इस प्रकार मलरहित योगी सदा अपने को योग में लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्मसुख का आनन्द प्राप्त करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥४३॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

२९—योग में आत्मा को लगाने वाला पुरुष अपनी आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को अपनी आत्मा में सम भाव से देखता हुआ समदर्शी बन जाता है।

३०—जो मुझे सर्वत्र और सबको मुझ में देखता है, मैं कभी उससे ओझल नहीं होता और वह भी मुझसे ओझल नहीं होता।

३१—सबभूतों में स्थित मुझ ईश्वर को जो एकत्व भाव में आकर भजता है वह योगी सब प्रकार का व्यवहार करता हुआ भी सर्वत्र मुझ में ही बना रहता है।

३२—हे अर्जुन, अपने दृष्टान्त से जो सर्वत्र सम दृष्टि रखता है उसे चाहे सुख हो या दुःख, वही उत्तम योगी कहा गया है।

अर्जुन ने कहा--

३३—हे कृष्ण, आपने समत्व साधन के रूप में जिस योग का उपदेश दिया है, मन की चञ्चलता के कारण उसका टिकाऊ होना मुझे संभव नहीं जान पड़ता।

३४—हे कृष्ण, मन चञ्चल और इन्द्रियों को मथ देने वाला और बहुत बलवान् है। उसे रोकना मुझे हवा को बाँधने की तरह बहुत कठिन जान पड़ता है।

श्रीभगवान् ने कहा--

३५—हे दीर्घबाहु, निःसंदेह मन कठिनाई से वश में आता है, वह चंचल है। पर हे अर्जुन, अभ्यास और वैराग्य से वह वश में किया जा सकता है।

३६—जिसकी आत्मा वश में नहीं है उसके लिए योग की प्राप्ति कठिन है, ऐसा मैं समझता हूँ। पर जो आत्मा को वश में कर चुका है वह यदि यत्न करे तो युक्ति से उसे प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन ने कहा—

३७—जिस व्यक्ति में श्रद्धा तो है किन्तु असंयम के कारण जिसका मन योग से हट गया है ऐसा पुरुष योग में सफलता न होने पर किस गति को प्राप्त करता है?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

३८—कहीं दोनों ओर से नष्ट हुआ वह आकाश में हवा से उड़ाए हुए बादल के समान नाश को तो प्राप्त नहीं हो जाता ? हे महाबाहु, वह किसी प्रतिष्ठा के बिना ब्रह्म के मार्ग में खो तो नहीं जाता ?

३९—हे कृष्ण, मेरा यह संशय कृपया पूरी तरह दूर करिए। आप के अतिरिक्त कोई दूसरा इस संशय को हटाने में समर्थ नहीं है।

श्रीभगवान् ने कहा—

४०—हे अर्जुन, न इस लोक में और न उस लोक में उसका विनाश संभव है। हे तात, कोई भी व्यक्ति जो कल्याण का साधक है दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

४१—ऐसा योगभ्रष्ट व्यक्ति पुण्यात्माओं के लोकों को पाकर और अनेक वर्षों तक वहाँ रहकर फिर पवित्र श्रीमंत लोगों के घरों में जन्म लेता है।

४२—अथवा विचारवान् योगियों के ही कुल में उत्पन्न होता है। किन्तु जो इस प्रकार का जन्म है उसे इस लोक में पाना कुछ अधिक कठिन है।

४३—हे अर्जुन, ऐसे जन्म में वह पूर्व जन्म से मिले हुए बुद्धि-संस्कार को पाता है और फिर सिद्धि के लिए यत्न करता है।

४४—अपने उस पहले अभ्यास की प्रेरणा से वह बलपूर्वक उसी मार्ग पर ले जाया जाता है। योग का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा मात्र भी शास्त्रों के ढेर जानने से बढ़कर है।

४५—प्रयत्न पूर्वक यत्न करता हुआ योगी पापों के शुद्ध हो जाने से अनेक जन्मों में सफलता प्राप्त करता हुआ अन्त में परम गति को प्राप्त हो जाता है।

४६—योगी तपस्वियों से अधिक है, ज्ञानियों से भी अधिक है और कर्मयोगियों से भी अधिक है; इसलिए हे अर्जुन, योगी बनो।

४७—ऐसे योगियों में भी जिसका अन्तरात्मा मुझ ईश्वर में लगा हुआ है, जो श्रद्धावान् होकर मुझे भजता है, वह मेरे मत में सबसे विशिष्ट योगी है।

ॐ तत्सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन संवाद का ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृण ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१—हे अर्जुन, मुझ में मन लगाकर और मेरा आश्रय लेकर योग को साधते हुए जिस भाँति तुम मेरा समग्र रूप निश्चय जान सकोगे उसे सुनो।

२—विज्ञान के सहित जो ज्ञान है उसे मैं तुमसे पूरी तरह कहता हूँ, जिसे जान लेने पर फिर और कुछ जानना यहाँ शेष नहीं रहता।

३—सहस्रों मनुष्यों में कोई ही सिद्धि के लिए यत्न करता है। एवं जो प्रयत्न करने वाले सिद्ध हैं उनमें भी कोई ही ठीक प्रकार से मुझे जान पाता है।

४—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये मेरी प्रकृति के आठ भेद हैं।

५—इनकी संज्ञा अपरा प्रकृति है। इससे ऊपर मेरी परा प्रकृति है। हे दीर्घबाहु, वही परा प्रकृति जीव है और इस सब जगत् (अपरा प्रकृति) को धारण करती है।

६—सब प्राणी इन्हीं दोनों से जन्मे हैं, ऐसा निश्चय जानो। मैं सम्पूर्ण जगत् का जन्म और संहार करने वाला हूँ।

७—हे अर्जुन, मुझ से उच्चतर और कुछ नहीं है। मुझ में ही यह विश्व धागे में मनकों की भाँति पिरोया हुआ है।

८—हे अर्जुन, मैं जलों में रस हूँ। मैं चन्द्रमा और सूर्य की ज्योति हूँ। मैं सब वेदों में ॐ कार, आकाश में शब्द और नरों में पौरुष हूँ।

९—पृथ्वी में सुगंध और अग्नि का तेज मैं हूँ। सब प्राणियों में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूँ।

१०—हे अर्जुन, सब प्राणियों का सनातन बीज मुझे जानो। बुद्धि-शालियों की बुद्धि और तेजशालियों का तेज मैं हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

११—बलवानों का वह बल मैं हूँ जिसमें काम और राग न हो। हे भारत, प्राणियों में धर्म से विरोध न रखने वाला काम मैं हूँ।

१२—और भी जो सात्त्विक भाव है, राजस भाव और तामस भाव हैं, मुझसे ही उन्हें निकला हुआ समझो। मैं उनमें नहीं वरन् वे मुझ में हैं।

१३—इन तीन गुणमय भावों से मोहित होने के कारण यह जगत् मेरे इनसे ऊँचे अव्यय रूप को नहीं जानता।

१४—इस मेरी गुणमयी दैवी माया का पार पाना कठिन है। जो मेरी शरण लेते हैं वे ही इस माया का पार पाते हैं।

१५—जो पापचारी मूर्ख नराधम हैं वे मेरी शरण में नहीं आते, क्योंकि उनका ज्ञान माया ने हर लिया है और वे आसुरी भाव में लिप्त हैं।

१६—हे अर्जुन, चार प्रकार के पुण्यात्मा प्राणी मेरी शरण में आते हैं। हे भारत, वे आर्त, जिज्ञासु, अर्थलोभी और ज्ञानी ह।

१७—उनमें एकाग्र भक्तिवाला नित्य योगी ज्ञानी सबसे उत्तम है। मैं ज्ञानी को अति प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।

१८—ये सब ही अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा अपना रूप है। योगयुक्त होकर वह मुझे ही उत्तम गति मानकर मेरा आश्रय लेता है।

१९—अनेक जन्मों के अन्त में ज्ञानी मेरी शरण में आता है। सबको ईश्वर रूप मानने वाला महात्मा कठिनाई से मिलता है।

२०—उन-उन विशेष इच्छाओं से ध्यान आकृष्ट हो जाने के कारण लोग अन्य देवताओं का आश्रय लेते हैं। अपने स्वभाव के वशीभूत वे उस-उस नियम का पालन करते हैं।[1]

२१—जो जो जिस जिस देवता के भक्त होकर श्रद्धा से उसकी पूजा करना चाहते हैं उनमें से प्रत्येक की उस-उस अचल श्रद्धा को मैं उसके लिए अनुकूल बनाता हूँ।

---

१ यहाँ 'नियम' का संकेत पृथक्-पृथक् देवों की मान्यता से है जिनके अनुयायी प्राचीन काल में व्रतिक कहलाते थे।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

अन्तवत् तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

२२--वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की अराधना करता है। और उससे अपनी उन इच्छाओं को प्राप्त करता है जिनका देने वाला भी मैं ही हूँ।

२३—उन मन्द बुद्धि वाले मनुष्यों की पूजा का वह फल अल्पकालिक होता है। देवों को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं और मेरे भक्त मुझे पाते हैं।

२४—मूर्ख जन मुझ अव्यक्त को व्यक्तभाव में आया हुआ समझते हैं, क्योंकि वे मेरे अव्यय सर्वोत्तम परम भाव को नहीं जानते।

२५—अपनी योग माया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूँ। यह मूढ़ लोक मेरे अजन्मा अव्यय रूप को नहीं जानता।

२६—हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य में होने वाले प्राणियों को जानता हूँ, पर मुझे कोई नहीं जानता।

२७—हे भारत, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से, हे परंतप, सब प्राणी इस संसार के भुलावे में पड़ जाते हैं।

२८—जिन पुण्यात्माओं का पाप नष्ट हो गया है वे द्वन्द्वों के मोह से छूट कर दृढ़ निष्ठा से मुझे भजते हैं।

२९—जन्म और मरण से छूटने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर मुझे भजते हैं, वे ब्रह्म को, अध्यात्म को और समस्त कर्म को समझ जाते हैं।[१]

३०—जो मेरे देवात्मक और यज्ञात्मक स्वरूप को जानते हैं, वे मृत्यु के समय भी एकाग्र चित्त होने से मेरा ज्ञान रखते हैं।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या म और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का ज्ञान-विज्ञान नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

१ ब्रह्म=विराट् विश्वात्मा या परमात्मा। अध्यात्म=जीवात्मा।

॥अथाष्टमोऽध्यायः॥

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

आठवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१—हे कृष्ण वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं? अधिदैव क्या है?

२—हे कृष्ण, इस देह में अधियज्ञ क्या है? आत्मा को वश में रखने वाले व्यक्ति मृत्यु के समय आप को कैसे जान सकते हैं?

श्री भगवान् ने कहा—

३—परम अक्षर (अविनाशी) तत्त्व ही ब्रह्म है। स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है। प्राणियों के भावों को जन्म देने वाली यह सृष्टि ही कर्म कही गई है।

४—क्षर या नश्वर भाव अधिभूत है। विराट् पुरुष अधिदैवत है।[1] हे नरश्रेष्ठ, इस देह में अधियज्ञ मेरा ही रूप है।

५—हे अर्जुन, अंत समय में मेरा ही स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं।

६—हे अर्जुन, अन्त में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ प्राणी अपना शरीर त्याग करता है उस भाव को मन में लिए हुए वह आगे भी उसी को प्राप्त करता है।[2]

---

१ परम विशेषण अक्षर के साथ है। अक्षर या अविनाशी तत्त्व दो प्रकार का है। एक जीव रूप में, दूसरा ईश्वर रूप में। जीव अवर अक्षर है और ईश्वर परम अक्षर है। अधिभूत=क्षर या नश्वर या अपरा प्रकृति, (क्षरः सर्वाणि भूतानि१५।१६)।

२ यहाँ यही कहा है कि एक जन्म के भाव या सूक्ष्म संस्कार प्राणी के साथ दूसरे जन्म में जाते हैं।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं या पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥
आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

७—इसलिए हर समय मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। मुझ में मन और बुद्धि लगाकर निस्संदेह मेरे पास ही पहुँचोगे।

८—हे अर्जुन, अन्यत्र चलायमान न होने के अभ्यास के साधन से युक्त चित्त से ध्यान करता हुआ प्राणी दिव्य परम पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

९-१०—कवि, पुराण, सबके शासक, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सबके धाता, अचिन्त्य रूप, आदित्य वर्ण, तम से अतीत ब्रह्म का जो मृत्यु के समय एकाग्र मन से ध्यान करता है वह भक्ति और योग बल से संयुक्त, भौंहों के बीच में अपने प्राणों को भली प्रकार स्थिर करके उसी दिव्य परम पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

११—वेदों को जानने वाले जिस अक्षर ब्रह्म की व्याख्या करते हैं, वीतराग मुनि जिसे प्राप्त करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए तपस्वी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उस पद को तुमसे संक्षेप में कहता हूँ।

१२—सब इन्द्रिय द्वारों को वश में करके और मन को हृदय में रोक कर अपने प्राणों को शीर्ष स्थान (आज्ञाचक्र) में स्थिर करके योग की धारण का आश्रय लेकर,

१३—ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा ध्यान करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त करता है।

१४—जो अनन्य चित्त से मेरा नित्य स्मरण करता है उस नित्य युक्त योगी के लिए मैं सदा सुलभ हूँ।

१५—परम संसिद्धि (मोक्ष) को पहुँचे हुए महात्मा मुझे प्राप्त कर लेने के बाद फिर दुःखों से भरे हुए नश्वर पुनर्जन्म में नहीं पड़ते।

१६—हे अर्जुन, ब्रह्मा के स्थान तक जितने लोक हैं सबसे पुनः लौटना पड़ता है। किन्तु हे कौन्तेय, मुझे प्राप्त कर लेने पर फिर जन्म नहीं रह जाता।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

१७—जो पुरुष ब्रह्मा के सहस्र युगों वाले दिन को और सहस्र युगों वाली रात को जानते हैं वे अहोरात्र मत के विद्वान् कहे जाते हैं।[1]

१८—सृष्टि रूपी दिन के आने पर सब व्यक्त भाव में आने वाले प्राणी अव्यक्त से जन्म लेते हैं और प्रलय रूपी रात्रि के आने पर पुनः उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।

१९—यह भूतों का समूह पार्थिव जगत् पुनः जन्म लेकर पुनः लीन हो जाता है। हे अर्जुन, प्रलय रात्रि के आने पर यह विश्व बलपूर्वक प्रलय को प्राप्त हो जाता है, और दिन के आने पर फिर जन्म लेता है।

२०—अव्यक्त सनातन भाव इस व्यक्त विश्व से परे है। वह सब भूतों नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

२१—अव्यक्त की ही संज्ञा अक्षर है। वही परम गति है। जहाँ जाकर फिर प्राणी लौटते नहीं वही मेरा परम धाम है।

२२—हे अर्जुन, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है। सब प्राणी उसी के भीतर हैं और उसी ने इस जगत् को पसारा है।

२३—योगी लोग मृत्यु होने पर जिस काल यें मोक्ष और जिस काल में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, हे भारत, वह काल मैं तुम से कहता हूँ।[2]

२४—अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छह मास–इस काल में मरने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

२५—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष एवं दक्षिणायन के छह मास—इनमें मरने वाले चन्द्रमा की ज्योति में पहुंच कर वहाँ से फिर जन्म लेते हैं।

२६—संसार में शुक्ल और कृष्ण ये दो गतियाँ नित्य मानी जाती हैं। एक से मोक्ष और दूसरी से फिर लौटना होता है।

२७—हे अर्जुन, इन दोनों गतियों के भेद को जानने वाला योगी मोह में नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन, हर समय योग युक्त बनो।

---

१ यहाँ अहोरात्रवाद से तात्पर्य है जिसका उल्लेख नासदीय सूक्त में आया है। इसे ही कालवाद भी कहते थे।

२ अनावृत्ति=मोक्ष। आवृत्ति पुनर्जन्म।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

२८—वेद पढ़ने, यज्ञ करने, तप साधने और दान देने का जो पुण्य फल कहा गया है, योगी इसे जान लेने पर उन सबसे ऊपर उठ जाता है और सर्वोच्च मूल स्थान को प्राप्त करता है।

ॐ तत् सत्। श्री भगवान के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद का अक्षर ब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।
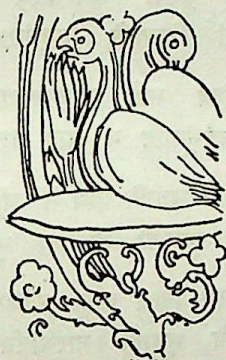
॥ अथ नवमोध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

श्री भगवान् ने कहा--

१—मैं विज्ञानसंयुक्त परम रहस्य यह ज्ञान श्रद्धायुक्त तुम से कहता हूँ। इसे जानकर तुम पाप से छूट जाओगे।

२—यह पवित्र और उत्तम रहस्यतम ज्ञान सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध होने वाला ज्ञान धर्मानुकूल है, करने में सुखकर है और नाश रहित है।

३—हे अर्जुन, जो पुरुष इस धर्म में श्रद्धा नहीं रखते वे मुझ तक न पहुँच कर फिर संसार मार्ग में चले आते हैं।[१]

४—अव्यक्त स्वरूप वाले मैंने इस सब जगत् को रचा है किन्तु मैं इसमें नहीं हूँ (अर्थात् मैं निर्गुण और यह सगुण है)।

५—और ये प्राणी भी मुझमें नहीं हैं। (ये सगुण रूप से मेरे निर्गुण रूप में नहीं हैं)। ऐसी मेरी विलक्षण ईश्वरी सामर्थ्य है। मैं भूतों का पालक हूँ, पर भूतस्थ नहीं हूँ।

६—जैसे आकाश में भरा हुआ वायु सर्वत्र संचार करने वाला और महान् है, वैसे ही सब प्राणी मेरे भीतर हैं,--ऐसा निश्चित समझो।

७—हे अर्जुन, सब प्राणी कल्पान्त में मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्प के अन्त में मैं पुनः उनका विसर्जन करता हूँ।

८—अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर मैं इस संपूर्ण भूत समूह को जो प्रकृति के नियंत्रण में पराधीन है पुनः पुनः सृष्टि के लिए उन्मुक्त करता हूँ।

---

१ संसार मार्ग=जन्म-मरण चक्र।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

९—हे अर्जुन, वे कर्म मुझे नहीं बाँधते। मैं उदासीन की भाँति स्थित होकर उन कर्मों में लगा रहता हूँ।

१०—मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को जन्म देती है। हे अर्जुन, इस कारण से यह संसार-चक्र घूमता है।

११—मूर्ख समझते हैं कि मैं मनुष्य देह में आ जाता हूँ, क्योंकि वे भूतों के अधिपति मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते।[1]

१२—व्यर्थ की आशाओं से भरे हुए, व्यर्थ विचारों वाले वे लोग मोह में डालने वाले राक्षसी और आसुरी स्वभाव में पड़े रहते हैं।

१३—हे अर्जुन ! महात्मा लोग दैवी स्वभाव को ग्रहण करके और मेरे अज अव्यय रूप को जानकर अनन्य मन से मुझे भजते हैं।

१४—वे सदा मेरा ही यशोगान करते हैं और अपने नियम में पक्के होकर यत्न करते रहते हैं। वे भक्ति से प्रणाम करते हुए सदायोग-युक्त रहकर मेरी उपासना करते हैं।

१५—कोई ज्ञान-यज्ञ से यजन करते हुए मेरी आराधना करते हैं। यद्यपि मैं सब रूपों में हूँ पर रुचि भेद से लोग मुझे एक ब्रह्म रूप में या अलग-अलग देवों के रूप में भजते हैं।

१६—संकल्प या मन का विचार मैं ही हूँ, यज्ञ मैं ही हूँ, मन्त्र म ही हूँ। मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ, मैं ही आहुति हूँ।

१७—में इस संसार का पिता और मैं ही माता हूँ। मैं ही इसका विधान करने वाला पितामह हूँ। जानने योग्य पवित्र ओंकार या अक्षर तत्त्व मैं हूँ। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद (त्रयीविद्या) मैं ही हूँ।

१८—सब के लिए गति, साक्षी, प्रभु, पालन करने वाला, सबका निवास स्थान, शरण, मित्र, उत्पत्ति, स्थिति और संहार मैं ही हूँ। मैं ही कभी न नष्ट होनेवाला बीज हूँ, जो सबका मूल है।

---

१ ईश्वर का परम भाव वह है जिसे अव्यय पुरुष कहते हैं। प्रकृति या प्रधान अक्षर पुरुष है। मानुषी शरीर क्षर पुरुष है जो प्रकृति से भौतिक विकृति के रूप में उत्पन्न होता है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

१९—मैं ही सूर्य वनकर तप रहा हूँ। मैं ही मेघ बनकर बरसता हूँ। म ही जलों को खींचता और फिर उन्हें छोड़ता हूँ। हे अर्जुन ! म अमृत और मृत्यु हूँ। मैं ही सत् और असत् दोनों रूपों में हूँ।

२०—त्रयी वेदविद्या के ज्ञाता, सोमपायी, पापों से शुद्ध हुए व्यक्ति यज्ञों से यजन करके स्वर्ग की इच्छा करते हैं। वे पवित्र इन्द्रलोक में पहुँच कर स्वर्ग के दिव्य देवोचित भागों को भोगते हैं।

२१—वे उस बहुविध स्वर्गलोक का भोग करके पुण्य चुक जाने पर फिर मर्त्यलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार त्रयीवेदों के यज्ञधर्म में विश्वास रखने वाले लोग अनेक कामनाओं की इच्छा रखकर स्वर्ग जाते और फिर लौटने के चक्कर में पड़ते हैं।

२२—अनन्य भाव से मेरा स्मरण करते हुए मुझ में युक्त जो लोग उपासना करते हैं ऐसे नित्ययोगियों के लिए मैं योग और क्षेम का प्रबन्ध करता हूँ।

२३—हे अर्जुन ! और भी जो श्रद्धा से युक्त भक्तजन दूसरे देवताओं को भजते हैं, वे वैधमार्ग से हटे हुए होकर भी मुझे ही पूजते हैं।

२४—मैं ही सब यज्ञों का भोग करने वाला और उनका स्वामी हूँ। जो मेरे इस तत्त्वरूप को नहीं जानते वे (स्वर्ग पहुँच कर भी) तत्त्व को न जानने से संसार में पुनः गिरते हैं।

२५—जो देवों का व्रत लेते हैं वे देवलोक में जाते हैं। जो पितरों के व्रत का पालन करते हैं वे पितरों के लोक में जाते हैं। भूतों को पूजने वाले भूतों के लोक में जाते हैं। मेरे उपासक मेरे लोक में आते हैं।[१]

---

१ यहाँ व्रत पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग पाली साहित्य में विशेष अर्थ में आया है अर्थात् किसी देवता विशेष की पूजा-मान्यता। अलग-अलग देवताओं को मानने वाले उसके व्रतिक कहलाते थे। जैसे गोव्रतिक (उद्योगपर्व ९७।१४)। सुत्तनिपात निद्देश टीका में इन्हें वतसुद्धिक (व्रतशुद्धिक) कहा है, जैसे हत्थि-वतिक, अश्व०, गो०, कुक्कुर०, काक०, वासुदेव०, बलदेव०, पुण्णभद्द०, अग्नि०, नाग०, सुपण्ण०, यक्ख०, असुर०, गंधब्ब०, महाराज०, चन्दिम०, सूरिअ०, इन्द्र०, ब्रह्मा०, देव०, दिशा०, इत्यादि। यहाँ यजन शब्द का भी विशेष अर्थ यज्ञ परक न होकर लोक देवताओं के पूजन के लिए है जिसे गीताकार ने वेदबाह्य मानकर अविधि पूर्वक पूजन कहा है। भूतेज्याः का तात्पर्य यक्ष, नाग, वृक्ष, नदी आदि अनेक भूतों की देवता के रूप में पूजा करने वालों से है। अलग-अलग लोकदेवों की पूजा का उल्लेख ऊपर ९।१५ श्लोक में आया है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

२६—पत्र, फूल, फल, जल जो भक्ति से मेरे लिए (देवता के लिए) चढ़ाता है उस भक्ति से दिए हुए द्रव्य को मैं ग्रहण करता हूँ।[1]

२७—हे अर्जुन! तुन जो पूजा विधि करो, जो भोग लगाओ, जो हवन करो, जो दान करो या जैसा तप साधो, वह सब ऐसे समझो, जैसे मुझे ही अर्पण किया हो।

२८—यों तुम कर्म में बाँधने वाले अच्छे या बुरे फलों से छूट जाओगे। संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में अपने मन को लगाकर जन्म से छूट कर मुझे ही प्राप्त कर लोगे।

२९—मैं सब प्राणियों के लिए एक जैसा हूँ। मेरे लिए कोई शत्रु और कोई प्यारा मित्र नहीं है। जो भक्ति से मुझे पूजते हैं मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं।

३०—यदि आचार से बहुत हटा हुआ भी कोई अनन्यचित्त से मुझे भजता है तो उसे भी साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह अच्छे कर्म में लगा है।

३१—वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और स्थायी शान्ति पा लेता है। हे अर्जुन! यह निश्चित समझ लो कि जो मेरा भक्त है उसका नाश नहीं है।

३२—हे अर्जुन! मेरा आश्रय लेकर नीच कुल में जन्म लेने वाला मनुष्य स्त्री, वैश्य, शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।

---

१ पत्र, पुष्प, फल, जल से पूजा की विधि लोक में प्रचलित थी और वैदिक यज्ञ-विधि की तुलना में वेदबाह्य थी, किन्तु कालान्तर में यह सब मन्दिरों में स्वीकार कर ली गई। अब विष्णु और शिव आदि के मन्दिरों में देवार्चन की दोनों विधियाँ चलती हैं। एक पत्र, पुष्प, नैवेद्य आदि के द्वारा लोकविधि और दूसरी मन्त्र पाठ के साथ वेदविधि जिसमें पुरुष सूक्त या रुद्राध्यायी आदि का पूजन के साथ पाठ किया जाता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

३३—फिर पवित्र ब्राह्मण और भक्त राजर्षियों की बात ही क्या ? इस नाशवान् सुखरहित संसार में आकर मुझे भजो।

३४—हे अर्जुन ! मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरा पूजन करो, और मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार अपने मन को एकाग्र करके मुझे ही सब कुछ मानकर मुझे ही प्राप्त कर लोगे।

ॐ तत् सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का राजविद्याराजगुह्य योग नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

।। अथ दशमोध्यायः ।।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत् तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १ ।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। २ ।।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ३ ।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।। ४ ।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।। ५ ।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।। ६ ।।

दसवाँ अध्याय

श्री भगवान् ने कहा--

१--हे महाबाहु, फिर मेरी सर्वोपरि बात सुनो, जिसे मैं चित्त से प्रेम मानने वाले तुमसे भलाई के लिए कहता हूँ।

२--देवता मेरे जन्म को नहीं जानते, न महर्षि ही जानते हैं। मैं देवता और सब महर्षियों का आदि कारण हूँ।

३--जो मुझे अजन्मा, अनादि और सब लोकों का स्वामी समझता है वह मनुष्यों में जागरूक रहने के कारण सब पापों से छूट जाता है

४--बुद्धि, ज्ञान, मोह का न होना, क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रियों को वश में रखना), शम (मन को वश में रखना), सुख, दुःख, होना, न होना, भय और अभय,

५--अहिंसा, समत्व का भाव, सन्तोष, तप, दान, यश, निन्दा, ये सब अलग-अलग भाव प्राणियों में मुझ से ही आते हैं।

६--सात महर्षि (सप्तर्षि), पूर्व कालीन चार कुमार और चौदह मनु ये मेरे मानस भाव हैं जिनसे लोक में ये प्रजाएँ उत्पन्न हूई हैं।[1]

---

१ सात महर्षि-इन्हें वेदों में सप्तर्षि, सप्तविप्र, सप्तांगिरस आदि नामों से कहा है। सृष्टि के लिए एक तत्त्व का सप्तधा विभाग आवश्यक है। चार पूर्वकालीन कुमार सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार हैं। ये स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज चार प्रकार की सृष्टि के प्रतीक हैं। चौदह मनु उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप कालचक्र के अधिष्ठाता हैं। १४ ब्रह्मा के दिन में, १४ रात्रि में २ संध्याओं में, इस प्रकार तीस मनुओं से ब्रह्मा का अहोरात्र पूर्ण होता है। यहाँ पूर्वाह्ण और अपराह्ण दिन के दो भागों की गणना से १४ संख्या कही गई है। यह वेद की अहोरात्र विद्या थी। ये तीनों मानसी सृष्टि के उपलक्षण हैं। मनु से मन, सप्तऋषियों से प्राण और चार कुमारों से चार प्रकार की भौतिक सृष्टि का ग्रहण होता है। जब ये तीनों तत्त्व मिलते हैं तब इनसे मैथुनी सृष्टि जन्म लेती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

७—मेरी इस विभूति और योग को जो ठीक तरह जानता है वह अविचल योग प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं।

८—मैं सब की उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझ से ही सब कार्य उत्पन्न हो रहे हैं। ऐसा समझ कर पंडितजन भावयुक्त मन से मुझे ही भजते हैं।

९—जो मुझमें मन लगाकर और प्राणों को मेरे अधीन करके आपस में इसका ज्ञान कराते हैं और सदा मेरा वर्णन करते हुए प्रसन्न रहते हैं और कार्य में लगे रहते हैं,

१०—सदा युक्त रहकर प्रेम के साथ मेरा भजन करने वाले उनको मैं वह बुद्धि योग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

११—उनके ऊपर दया करके मैं उनके आत्मभाव में स्थित होकर अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को चमकता हुआ ज्ञान-दीपक जलाकर दूर कर देता हूँ।

अर्जुन ने कहा—

१२—आप परब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं। आप सनातन, दिव्य, अजन्मा, आदिदेव और सर्वव्यापक पुरुष हैं।

१३—ऐसा आपके विषय में सब ऋषियों ने और देवर्षि नारद ने भी कहा है। असित, देवल और व्यास का भी यही मत है और स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं।

१४—हे कृष्ण, आप ने जो मुझसे कहा है मैं उस सबको सत्य मानता हूँ। हे भगवन्, आपके जन्म को न देवता जानते हैं, न दानव।

१५—हे पुरुषोत्तम, केवल आप ही स्वयं अपने आपको जानते हैं। हे भूतों को जन्म देनेवाले, भूतों के स्वामी, देवों के देव, हे जगत्पति,

१६—अपनी सब दिव्य विभूतियों का मुझसे पूरा वर्णन कीजिए, जिन विभतियों के रूप में आप इन सब लोकों में व्याप्त हो रहे हैं।

१७—हे योगेश्वर, सदा आपका ध्यान करते हुए मैं आपको कैसे पहचानूं? हे भगवन्, किन-किन स्वरूपों में और किन-किन भावों में आपका मैं ध्यान करूँ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

१८—हे कृष्ण ! अपने योग और विभूतियों को विस्तार से पुनः कहिए, क्योंकि उन्हें सुनकर भी मेरी तृप्ति नहीं हुई।

१९—अच्छा ! भगवान् ने कहा—जो मेरी मुख्य विभूतियाँ हैं मैं उन्हें बताता हूँ। हे अर्जुन ! मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

२०—सब प्राणियों के भीतर रहने वाला आत्मा मैं ही हूँ। मैं प्राणियों का आदि मध्य और अन्त हूँ।

२१—देवमाता अदिति के पुत्र आदित्यों में मैं विष्णु हूँ। नक्षत्रों में मैं अंशुमाली सूर्य हूँ, मरुत् गण में मरीचि हूँ और तारों में चन्द्रमा हूँ। (सूर्य स्वयंज्योति और चन्द्रमा परज्योति है)।

२२—वेदों में मैं सामवेद हूँ और देवताओं में इन्द्र हूँ। इन्द्रियों में मैं मन हूँ और प्राणियों में चेतना हूँ।

२३—रुद्रों में मैं शंकर हूँ, यक्षों और राक्षसों में कुबेर हूँ। वसुओं में अग्नि हूँ, पर्वतों में मैं मेरु हूँ।

२४—मुझे हे अर्जुन ! पुरोहितों में सबका मुख्य बृहस्पति जानो। सेनापतियों में मैं स्कन्द हूँ। जलाशयों में मैं समुद्र हूँ।

२५—महर्षियों में मैं भृगु हूँ। वाणियों म मैं एक अक्षर ॐकार हूँ। यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ। स्थावर वस्तुओं में मैं हिमालय हूँ।

२६—सब वृक्षों में मैं पीपल हूँ, देवर्षियों में मैं नारद हूँ। गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ, सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

२७—अश्वों में मुझे अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा समझो।

२८—हथियारों में मैं वज्र हूँ। गायों में मैं कामधेनु हूँ। प्रजनन करने वाला कामदेव मैं हूँ। सर्पों में मैं वासुकि हूँ।

---

१ श्रृण्वतः—यहाँ नवम अध्याय में भगवान् द्वारा कही हुई विभूतियों का संकेत है जिन्हें अर्जुन पहले सुन चुका है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चाहं स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

२९—नागों में मैं अनन्त हूँ। समुद्र के जीवों में मैं वरुण हूँ। पितरों में अर्यमा हूँ और संहार करने वालों में यम हूँ।

३०—दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ। सबको खंड भाव में लानेवाला मैं काल हूँ। पशुओं में मैं सिंह हूँ और पक्षियों में गरुड़ हूँ।

३१—पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ। शस्त्रधारियों में मैं परशुराम हूँ। मछलियों में मैं मगर हूँ और नदियों में गंगा हूँ।

३२—हे अर्जुन ! सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। विद्याओं में मैं आत्मविद्या हूँ और तर्क करने वालों का वाद मैं ही हूँ।

३३—अक्षरों में मैं अकार हूँ और समासों में मैं द्वन्द्व हूँ। मैं ही अक्षय काल हूँ। चतुर्मुखी ब्रह्मा मैं ही हूँ।

३४—सबका लोप कर देनेवाली मृत्यु मैं ही हूँ और होने वालों का जन्म मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, मधुर वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मेरे रूप हैं।

३५—सामगानों में मैं वृहत्साम हूँ और छन्दों में गायत्री हूँ। महीनों में अगहन मास मैं हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

[बृहत्साम=सूर्य का साम]

३६—जुआड़ियों का जूआ और तेजधारियों का तेज मैं हूँ। युद्ध में जय, कर्म में उद्योग और बलवानों का बल मैं हूँ।

३७—मैं वृष्णियों में वासुदेव और पाण्डवों में अर्जुन हूँ। ऋषियों में मैं व्यास और कवियों में उशना कवि हूँ।

३८—दण्ड देनेवालों का दण्ड और विजय की इच्छा रखने वालों की जीत मैं हूँ। चुप रहनेवालों का मौन भाव और ज्ञानियों का ज्ञान भाव मैं हूँ।

३९—हे अर्जुन, सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाला जो बीज है, वह ही हूँ। चराचर प्राणियों में ऐसा कुछ नहीं है जो मुझ से बाहर हो।

४०—हे अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार यहाँ संक्षेप में ही कहा है।

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोध्यायः ॥१०॥

४१—जिस-जिस प्राणी में कोई भी ऐश्वर्य, सौंदर्य और बल है उसे ही तुम मेरे अंश से उत्पन्न समझो।

४२—अथवा हे अजन ! इसे वहुत जानकर भी तुम क्या करोगे ? मैं सारे संसार को अपने एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ।

ॐ तत् सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।
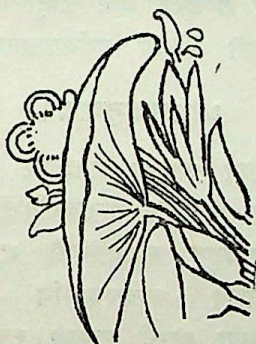
॥अथ एकादशोऽध्यायः॥

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१—मुझ पर कृपा करके आपने जो परम रहस्यमय अध्यात्मविद्या का उपदेश किया उससे मेरा मोह दूर हो गया है।

२—प्राणियों के जन्म और मृत्यु का विस्तृत वर्णन भी मैंने आप से सुना। हे कृष्ण! आपका अक्षय माहात्म्य भी आपके कहने से मैंने जाना।

३—हे परमेश्वर! जैसा आपने अपने विषय में कहा वह सच ही है। हे पुरुषोत्तम! आप के ईश्वरीय रूप को मैं देखना चाहता हूँ।

४—हे प्रभु! यदि आप ऐसा समझते हों कि मैं उसे देख सकता हूँ तो हे योगेश्वर! आप मुझे अपना वह अविनाशी रूप दिखावें।

श्री भगवान् ने कहा—

५—हे अर्जुन! मुझे सैकड़ों, सहस्रों भाँति के दिव्य रूपों में देखो। वे अनेक प्रकार के हैं और जिनमें अनेक वर्ण और आकृतियाँ हैं।

६—वसु, रुद्र, आदित्य, दो अश्विनी कुमार और मरुद्गण नामक देवों को देखो। हे अर्जुन! जिन्हें पहले नहीं देखा है ऐसे अनेक आश्चर्य देखो।

७—हे अर्जुन! मेरे शरीर में चर और अचर संसार को आज एक ही जगह देख लो तथा और भी जो देखना चाहो देखो।

८—किन्तु तुम इन्हीं नेत्रों से मुझे नहीं देख सकते। अतएव मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। उससे तुम मेरी ईश्वरीय महिमा के दर्शन करो।

संजय ने कहा—

९—हे राजन्, इतना कह कर महान् योगेश्वर कृष्ण ने अपना परम ईश्वरीय रूप अर्जुन को दिखाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

१०—उसमें अनेक मुख, अनेक नेत्र थे, और अनेक प्रकार के विस्मय-कारी रूप थे। वह अनेक दिव्य आभूषणों से अलंकृत था, और उसके हाथों में अनेक दिव्य आयुध थे।

११—वह दिव्य माला और वस्त्रों से सुसज्जित था और दिव्य गन्धों से अनुलिप्त था। सब आश्चर्यों से भरा हुआ देव का वह दिव्य रूप अनन्त और सब ओर मुख वाला था।

१२—यदि आकाश में एक साथ सहस्रों सूर्यों का प्रकाश फैल जाय तो कदाचित् वह प्रकाश भगवान् की उस दिव्य ज्योति की तुलना कर सके।

१३—तब अर्जुन ने भगवान् के उस शरीर में सारे संसार को एकत्र और अलग-अलग बँटा हुआ देखा।

१४—तब आश्चर्य में भरकर और रोमाञ्चित होकर अर्जुन ने भगवान् को सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा।

अर्जुन ने कहा—

१५—हे देव, मैं आपके शरीर में प्राणियों के विशेष समूह (अथवा महदादि भूतों के विशेषान्त समूह), कमल के आसन पर बैठे हुए सबके स्वामी ब्रह्मा और सब ऋषि और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।

१६—मैं देख रहा हूँ कि आपके सर्वथा अनन्त रूप में अनेक भुजाएँ, उदर, मुख और नेत्र हैं। हे विश्व के स्वामी विश्वरूप, आपका आदि, मध्य और अन्त मुझे नहीं दिखाई पड़ता।

१७—किरीट, गदा और चक्र धारण किए हुए आप तेज-समूह की भाँति सब ओर प्रकाशमान हैं। चारों ओर विस्तृत आपका अग्नि और सूर्य के समान भास्वर रूप मैं कठिनाई से देख पा रहा हूँ।

१८—आप जानने योग्य परम अक्षर हैं। आप इस संसार के परम स्रोत हैं। आप अव्यय और शाश्वत धर्मों के रक्षक एवं सनातन पुरुष हैं, ऐसा मुझे भास रहा है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

१९—मैं आपके उस रूप को देख रहा हूँ जो आदि, मध्य और अन्त से रहित है, जिसमें अनन्त शक्ति है, धधकती हुई अग्नि ही जिसमें मुख है, जिसमें अनन्त भुजाएँ हैं और सूर्य और चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, और जो अपने तेज से इस विश्व को तपा रहा है।

२०—आपने अकेले ही द्युलोक और पृथिवी के इस अन्तराल और सब दिशाओं को व्याप्त कर रखा है। हे महात्मन्, आप के इस आश्चर्यकारी भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक काँप रहे हैं।

२१—वे देवताओं के समूह आपके भीतर प्रवेश कर रहे हैं। कोई डरे हुए हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों के गण स्वस्ति वाचन के साथ बड़े-बड़े स्तोत्रों से आपकी स्तुति कर रहे हैं।

२२—रुद्र, आदित्य, वसु, और सब साध्य देव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितर, गन्धर्व, यक्ष, देव और सिद्धों के संघ सभी आपको आश्चर्य से देख रहे हैं।

२३—हे महाबाहु ! अनेक मुख और नेत्रों से युक्त आप के विश्वरूप को, जिसमें अनेक भुजाएँ, जंघा और पैर हैं, जिसमें अनेक उदर और अनेक विकराल दांत हैं, देखकर समस्त लोक और मैं भी भयभीत हो गया हूँ।

२४—आकाश को छूनेवाले, प्रकाशयुक्त अनेक रंगों से भरे हुए, मुँह फाड़े हुए और चमकते हुए बड़े नेत्रों वाले आपको देखकर मेरा अन्तःकरण बहुत डर गया है। हे विष्णु, हे भगवन्, मुझे धैर्य और शान्ति नहीं मिल रही है।

२५—विकराल दाढ़ों वाले और प्रलयाग्नि के समान आपके प्रचण्ड-मुखों को देखकर मुझे दिशाओं का ज्ञान भूल रहा है और स्थिरता नहीं मिल रही है। हे जगत् के निवासस्थान ! देवों के स्वामी, कृपा कीजिए।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

२६—सब राजाओं के साथ ये धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे भी सब प्रधान योद्धा,

२७—आपके विकराल दाँतों वाले भयंकर मुखों के भीतर हड़बड़ी के साथ चले जा रहे हैं। कोई दाँतों के बीच में फँस जाने से फूटे हुए सिरों के साथ दिखाई पड़ रहे हैं।

२८—जैसे नदियों की अनेक जल धाराएँ समुद्र की ओर मुँह उठाए दौड़ती हैं, वैसे ही मर्त्यलोक के ये योद्धा आपके धधकते हुए मुखों के भीतर जा रहे हैं।[१]

२९—जैसे जलती हुई आग में पतिंगे अपनी मृत्यु के लिए झपट कर जा गिरते हैं, वैसे ही ये लोक अपने नाश के लिए दौड़ते हुए आप के मुखों में चले जा रहे हैं।

३०—आप अपने जलते हुए मुखों से सब लोकों को चारों ओर से ग्रसते हुए चाट रहे हैं। हे विष्णु, समस्त जगत् को तेजों से बढ़ती हुई आपकी भयंकर ज्वालाएँ जला रही हैं।

३१—मुझे बताइये, ऐसे भयंकर रूप में आप कौन हैं? आपको प्रणाम है। देवोत्तम! कृपा कीजिए, मैं आपका मूल रूप जानना चाहता हूँ। आपकी यह क्रिया मेरी समझ में नहीं आ रही है।

---

१ जलती हुई चिताएँ ही विराट् ईश्वर के जलते हुए अग्निमुख हैं।

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ॥३७॥

श्री भगवान् ने कहा—

३२—मैं लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूँ। मैं लोकों के क्षय के लिए यहाँ क्रियाशील हूँ।

३३—इसलिए तुम उठो और यश प्राप्त करो और शत्रुओं को जीतकर भरेपूरे राज्य का भोग करो। ये सब मेरे द्वारा पहले से ही मारे जा चुके हैं। हे अर्जुन! तुम निमित्त मात्र वन जाओ।

३४—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और दूसरे बली योद्धाओं को जो मेरे द्वारा नष्ट किये जा चुके हैं, तुम मार डालो, डरो मत।

संजय ने कहा—

३५—भगवान् की यह बात सुनकर अर्जुन ने काँपते हुए हाथ जोड़कर नमस्कार किया और फिर घिघिया कर डरते हुए प्रणाम करके कृष्ण से कहा।

अर्जुन ने कहा—

३६—हे कृष्ण, यह उचित ही है कि आपके गुणगान से संसार प्रसन्न होता है और उसमें प्रीति रखता है। डरे हुए राक्षस चारों ओर भाग रहे हैं और सब सिद्ध गण प्रणाम कर रहे हैं।

३७—हे महात्मन् आपको वे कैसे प्रणाम न करें? आप सबके गुरु और ब्रह्मा के भी प्रथम रचयिता हैं। हे अनन्त, देवों के स्वामी, जगत् के निवासस्थान, आप सत् और असत् अक्षर हैं, और जो उससे भी परे परातपर पुरुष हैं वह भी आप ही हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत् समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

३८—आप सब देवों में प्रथम, पुरातन पुरुष हैं। आप इस संसार के परम स्तोत्र हैं। आप सबके जानने वाले और जो जानने के योग्य हैं वह भी आप ही हैं। आप परम धाम (मोक्ष स्थान) हैं।

३९—वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति ब्रह्मा और उनके भी पिता आप हैं। आपको प्रणाम है, सहस्र बार प्रणाम है।

४०—आपके आगे दण्डवत् प्रणाम करता हूँ, आपके पीछे प्रणाम करता हूँ। आपका बल अनन्त और आपका विक्रम अपरिमित है।

४१—मैंने आपको अपना सखा मानकर 'हे कृष्ण, हे यादव, हे मित्र', जो इस प्रकार के धृष्ट संबोधन किये हों वह आपकी महिमा को न जानते हुए मेरी भूल से या अत्यन्त प्रेम के कारण ही हुआ है।

४२—और भी आपके साथ हँसी में विहार, शयन, भोजन या बैठने के समय, अथवा सबके सामने मैंने जो आपका सत्कार न किया हो, हे कृष्ण, अकेले में मैं सबमें अद्वितीय आपसे उसकी क्षमा माँगता हूँ।

४३—आप चर और अचर लोक के पिता हैं। आप सबके सबसे बड़े गुरु हैं। आपके बराबर कोई दूसरा नहीं है, अधिक तो कौन होगा ?

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

४४--इसलिए प्रणाम करके अपने शरीर को दडवत् डालकर सबके स्वामी और पूजनीय आपकी मैं कृपा चाहता हूँ। हे देव, जैसे पिता पुत्र का, मित्र मित्र का, और प्रिय प्रिय का अपराध क्षमा करता है वैसे ही आप भी क्षमा कीजिए।

४५--जो मैंने पहले नहीं देखा था उसे देखकर मैं हर्ष से भर गया हूँ। मेरा मन भय से डर गया है। हे देव, अपना वही पहला रूप मुझे दिखाइए। हे देवों के ईश्वर, हे जगन्निवास, कृपा कीजिए।

४६--किरीट, गदा और चक्र धारण किए हुए आपको फिर मैं पहले की भाँति देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहु, हे विश्वमूर्ति, आप पुनः अपना वही चार भुजधारी रूप प्रकट कीजिए।

श्री भगवान् ने कहा--

४७--हे अर्जुन ! मैंने तुम पर प्रसन्न होकर अपनी योग शक्ति से यह परम रूप दिखाया है। यह तेजयुक्त, विश्वात्मक, अनन्त और सर्वोपरि है। तुम्हारे अतिरिक्त इसे किसी और ने नहीं देखा।

४८--हे अर्जुन, न वेद, यज्ञ और स्वाध्याय से, न दानों से और न कर्मकाण्ड से, न घोर कठिन तपश्चर्या से मेरा यह रूप मनुष्य लोक में तुम्हारे सिवा कोई दूसरा देख सका है।

४९--तुम डरो मत और न अपने मन में कोई मोह आने दो। भय-रहित प्रसन्न मन से फिर तुम मेरे उसी रूप का अब दर्शन करो।

संजय उवाच।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

संजय ने कहा—

५०—यह कह कर कृष्ण ने फिर अपना वही सौम्य रूप दिखाया। उन महात्मा ने सुन्दर शरीर युक्त होकर डरे हुए अर्जुन को ढाढ़स बंधाया।

अर्जुन ने कहा--

५१—हे कृष्ण, आपके सुन्दर मानुषी रूप को देखकर मैं इस समय सचेत बनकर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गया हूँ।

श्री भगवान् ने कहा—

५२-५३—तुमने अति कठिनता से प्रत्यक्ष होने वाले मेरे जिस रूप को देखा है देवता भी उसे देखने की सदा इच्छा रखते हैं। मैं वेदों से, तपस्या से, दान से, और यज्ञ करने से भी इस रूप में नहीं देखा जा सकता जैसा तुमने मुझे देखा है।

५४—हे अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से ही मेरा यह रूप देखा, ठीक प्रकार से समझा और आत्मसात् किया जा सकता है।

५५—हे अर्जुन, जो मेरे निमित्त कर्म करता है, मुझे बड़ा मानता है, मेरा भक्त है, आसक्ति से रहित है और जो सब प्राणियों में वैर रहित है वही मुझे प्राप्त करता है।

ॐ तत्सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का विश्वरूपदर्शन नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ अथ द्वादशोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१—इस प्रकार सदा युक्त रहकर जो भक्त आपकी उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त अक्षर तत्त्व का ध्यान करते हैं, उन दोनों में कौन योग के मर्म को अच्छा समझते हैं ?

श्री भगवान् ने कहा—

२—जो मुझमें मन लगाकर प्रेम के साथ मेरी उपासना करते हैं और जो परम श्रद्धा से भरे हुए हैं वे सब योगियों में उत्तम हैं।

३-४—जो उस अकथनीय अव्यक्त अक्षर तत्त्व का ध्यान करते हैं, जो सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ (भूतों का अधिष्ठाता), अचल और नित्य है, वे सब इन्द्रियों को वश में करके, सबमें समत्व बुद्धि रखकर सब प्राणियों के हित में लगे होने से मुझे ही प्राप्त करते हैं।

५—किन्तु अव्यक्त में चित्त लगाने के कारण उन्हें अधिक कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। मनुष्यों के लिए अव्यक्त की शरणागति कठिनाई से प्राप्त होती है।

६—जो सब कर्मों को मुझे सौंप कर मेरी शरण में आ जाते हैं और अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए मुझे जपते हैं;

७—हे अर्जुन, मुझमें मन लगाने वाले उन लोगों का मैं मृत्यु संसार रूपी सागर से अविलम्ब उद्धार करता हूँ।

८—मुझमें ही मन लगाओ, मुझमें ही बुद्धि रखो, तो इस जन्म के अनन्तर मुझमें निवास करोगे, इसमें सन्देह नहीं।

९—यदि मुझमें अपने चित्त को एकाग्र न रख सको तो, हे अर्जुन, अभ्यास करते हुए मुझे पाने की इच्छ करो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

१०—यदि अभ्यास भी न कर सको तो मेरे लिए कर्म करो। मेरे उद्देश्य से कर्मों को करते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

११—यदि यह भी न कर सको तो मेरे कर्मयोग का सहारा लेकर, आत्मा को वश में रखते हुए सब कर्मों के फल का त्याग करो।

१२—अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान बढ़कर है। ध्यान से कर्म फल का त्याग उत्तम है। कर्म फल त्याग के बाद ही शान्ति मिलती है।

१३—सब प्राणियों में वैर छोड़कर जो मैत्री और करुणा की भावना रखता है, जो ममता और अहंकार से रहित है, और दुःख-सुख में समान रहकर क्षमाशील है,

१४—ऐसा सदा संतुष्ट रहने वाला, आत्मवशी और दृढनिश्चयी योगी मुझमें मन और बुद्धि अर्पित करके जो मेरा भक्त हो गया है वही मुझे प्रिय है।

१५—जिससे लोग घृणा नहीं करते और जो लोगों से घृणा नहीं करता, जो हर्ष, क्रोध, भय, और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।

१६—जो किसी से आशा न करने वाला, पवित्र, प्रवीण, तटस्थ, निर्भय और सब कर्मों का परित्याग करने वाला मेरा भक्त है वह मुझे प्यारा है।

१७—जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न इच्छा करता है, और जो भले-बुरे का परित्याग करके मेरी भक्ति करता है वह मुझे प्रिय है।

१८–१९—शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में जो समभाव रखता है, शीत और उष्ण तथा सुख और दुःख में जो समान रहता है, एवं जो आसक्ति रहित है, निन्दा और स्तुति में एक समान, मौन भाव से रहने वाला, जो मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहने वाला, स्थायी रूप से घर में न जकड़ा हुआ, जो स्थिरबुद्धि मनुष्य मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

२०—जो ऊपर कहे हुए इस धर्ममय अमृत को अपनाते हैं, ऐसे श्रद्धा-वान् मत्परायण भक्त मुझे बहुत प्यारे हैं।

ॐ तत् सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में और योगशास्त्र में श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद का भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ अथ त्रयदशोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तेरहवाँ अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—

१—हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है। इसे जो जानता है उसे विज्ञ लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं।[1]

२—हे अर्जुन ! सब क्षेत्ररूपी शरीरों में मुझे ही क्षेत्रज्ञ जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा सच्चा ज्ञान है, यह मेरा मत है।

३—वह क्षेत्र जो, जैसे स्वरूप का, जिस प्रकार विकार को प्राप्त होनेवाला और जहाँ से जन्म लेनेवाला है, तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जैसा और जिस प्रभाव का है, वह संक्षेप में मुझसे सुनो।

४—ऋषियों ने अनेक वेदमंत्रों में विभिन्न प्रकार से और हेतुओं के साथ सुनिश्चित ब्रह्मसूत्रों के शब्दों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विषयक ज्ञान बताया है।

५-६—पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व) और अव्यक्त (प्रधान या प्रकृति), दस इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन, पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक पंच तन्मात्राएँ), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना, धृति और इन सबके समूहात्मक पिण्ड की संक्षेप में इन सब विकारों के साथ क्षेत्र संज्ञा है।[2]

---

१ शरीर की संज्ञा क्षेत्र और आत्मा की क्षेत्रज्ञ ऋग्वेद के समय से चली आती है—अक्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः, १०।३२।७।

२ महाभूत=पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश। पाँच इन्द्रियगोचर=पंच तन्मात्राएँ। दस इन्द्रियाँ=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, नाक, आँख, रसना, त्वचा) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ)। ग्यारहवीं इन्द्रिय=मन। अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व), और अव्यक्त ये चौबीस तत्त्व सांख्य की गणना के अनुसार हैं जिनसे यह क्षेत्र या शरीर बना है। पचीसवाँ क्षेत्रज्ञ पुरुष है। महाभूत=भुतात्मा। दस इन्द्रियाँ=प्राणात्मा। अहंकार=प्रज्ञानात्मा। बुद्धि=विज्ञानात्मा और अव्यक्त=महानात्मा।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ॥१२॥

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

७—मान न करना, दम्भ न होना, अहिंसा, क्षमाशीलता, ऋजुता, आचार्य की सेवाभक्ति, पवित्रता, स्थिरता, आत्मसंयम,

८—इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार का न होना, एवं जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, दुःख इन दोषों का बार-बार चिन्तन,

९—अनासक्ति, पुत्र-स्त्री और घर आदि से न चिपटना और चाही-अनचाही घटनाओं में सदा चित्त को एक सा रखना,

१०—मुझमें एकाग्र योग से अचल भक्ति, एकान्त स्थान में रहना, मनुष्यों की भीड़-भाड़ में अरुचि,

११—सदा आत्मा का ज्ञान रहना और विश्व के तत्त्वज्ञान का अर्थ समझना, यही ज्ञान कहा जाता है। जो इससे उलटा है वह अज्ञान है।

१२—जो जानना चाहिए वह मैं तुमसे कहता हूँ, जिसे जानकर व्यक्ति अमृत का स्वाद चखता है। परब्रह्म आदि और अन्त रहित है। वह असत् और सत् भी कहा जाता है।

१३—जिसमें सब इन्द्रियों के गुण विद्यमान हैं और जो सब इन्द्रियों से रहित हैं, जो असंग है पर सबका पोषण करने के लिए सबके भीतर है, जो निर्गुण है पर सब गुणों का भोक्ता है,

१५—जो प्राणियों के बाहर और भीतर भी है, जो चेतन भी है; ऐसा ब्रह्म सूक्ष्म होने से जाना नहीं जाता। वह सबसे दूर होते हुए भी समीप में विद्यमान है।

१६—वह प्राणियों में अखंड रूप से रहते हुए भी अलग-अलग के समान स्थित है। वह प्राणियों का पालन करने वाला, संहार करने वाला और जन्म देने वाला है।

१७—वह सब ज्योतियों को प्रकाश देने वाली ज्योति और अन्धकार से पार कहा जाता है। वह ज्ञान रूप है, जानने योग्य है, और ज्ञान होने पर प्राप्त करने योग्य है। वह सबके हृदय में विराजमान है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

१८—इस प्रकार संक्षेप में मैंने तुम्हें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप समझाया है। मेरा भक्त इसे जानकर मेरे जैसा और मुझसे मिलने के योग्य हो जाता है।

१९—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि समझो। विकारों और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न होने वाला जानो।

२०—शरीररूप कार्य और इन्द्रियों (करण) की रचना का हेतु प्रकृति कही जाती है। सुख और दुःखों के भोक्ता चेतन तत्त्व जीव का कारण पुरुष है।[1]

२१—पुरुष प्रकृति के साथ मिलकर ही प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों का उपभोग कर सकता है। ऊँची और नीची योनियों में इसके जन्म का कारण गुणों में आसक्ति ही है।

२२—परम पुरुष जब इस देह में रहता है तब उसे साक्षी, कार्यों की अनुमति प्रदान करने वाला, भरण करने वाला, भोग करने वाला, सर्वोपरि अध्यक्ष और परमात्मा भी कहा जाता है।

२३—जो पुरुष को और गुणों के साथ प्रकृति को ऊपर कहे हुए रूप में समझ लेता है, वह सब कार्य करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता (अर्थात् मुक्त हो जाता है)।

२४—कोई ध्यान के द्वारा स्वयं आत्मा में आत्मा का दर्शन करते हैं, कोई सांख्ययोग से और कोई कर्मयोग से उसे पाते हैं।

२५—कोई उसे इस रूप में न जानते हुए केवल दूसरों से सुनकर ही जानने का यत्न करते हैं। वे भी श्रुति में भक्ति रखने के कारण मृत्यु के पार हो जाते हैं।

२६—हे अर्जुन, जितने चर और अचर जीव जन्म लेते हैं सबको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न समझो।

---

१ कार्य=शरीर। करण=इन्द्रियाँ। कर्तृत्व=रचना।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

२७—सब प्राणियों में समान भाव से रहने वाले परमेश्वर को जो उनका विनाश होने पर भी अविनाशी रूप में देखता है उसी का देखना ठीक है।

२८—सर्वत्र समान भाव से विद्यमान ईश्वर को देखता हुआ जो स्वयं आत्मा का निराकरण नहीं करता, वह परम गति (मोक्ष) प्राप्त करता है।

२९—जो यह समझता है कि सब कर्म प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है उसी का ज्ञान सच्चा है।

३०—जब व्यक्ति प्राणियों के अलग-अलग भावों को एक ही ईश्वर के स्वरूप में विद्यमान देखता है, और वहीं से उनके विस्तार को जानता है, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

३१—हे अर्जुन ! अव्यय ईश्वर अनादि और निर्गुण होने के कारण न कुछ करता है, न कर्म के बन्धन में पड़ता है, भले ही वह शरीर में आकर कर्म करता रहे।

३२—जैसे सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसी से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सर्वत्र व्यापक आत्मा अतिसूक्ष्म होने से देह में लिप्त नहीं होता।

३३—हे अर्जुन ! जैसे अकेला सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित कर रहा है वैसे ही आत्मा सब शरीरों के भीतर प्रकाशित हो रहा है।

३४—इस प्रकार जो ज्ञान के नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को और जन्म देने वाली प्रकृति से छूटने का उपाय भी जानते हैं, वे परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

ॐ तत्सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

।। अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।।

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।। १ ।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। २ ।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।। ३ ।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।। ४ ।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। ५ ।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।। ६ ।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।। ७ ।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। ८ ।।

चौदहवाँ अध्याय

श्री भगवान् ने कहा--

१—पुनः, ज्ञानों में जो उत्तम ज्ञान है उसे कहता हूँ जिसे जानकर सब मुनि इस लोक से परा सिद्धि या मोक्ष को प्राप्त हुए।

२—इस ज्ञान का आश्रय लेकर वे ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त होकर न पुनः सृष्टि में जन्म लेते हैं, न प्रलय में नाश को प्राप्त होते हैं।

३—महद्ब्रह्म[1] मेरी योनि है। मैं उसमें गर्भाधान करता हूँ। हे अर्जुन, उससे सब प्राणियों का जन्म होता है।

४—हे अर्जुन! सब योनियों में जो मूर्त शरीर जन्म लेते हैं उनकी योनि महद्ब्रह्म है और मैं रेत का आधान करने वाला पिता हूँ।[2]

५—हे विशालबाहु, सत्त्व, रज, तम ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होकर अव्यय आत्मा को शरीर के साथ जोड़ते हैं।

६—उनमें सत्त्व निर्मलता से सबका प्रकाशक और व्याधिरहित या विकाररहित है। हे निष्पाप अर्जुन, सत्त्वगुण प्राणी को सुख और ज्ञान की प्राप्ति कराता है।

७—रजोगुण का स्वरूप राग है। वह तृष्णा और आसक्ति को उत्पन्न करता है। हे अर्जुन, वह देहधारी को काम से युक्त करता है।

८—तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है और सब प्राणियों को मोह में डालता है। हे अर्जुन, तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बन्धन में डालता है।

---

१ महद्ब्रह्म=महत्तत्त्व=परमेष्ठी=विराज् नामक मातृतत्त्व। सृष्टि के उस मातृ तत्त्व में स्वयंभू पितारूप से विश्व के बीज का आधान करता है।

२ महद्ब्रह्म=योनितत्त्व, मातृतत्त्व। ब्रह्म या स्वयंभू=रेत या शुक्र या बीज जिसे भुवनस्य रेतः भी कहा जाता है। स्वयंभू और विराज् परमेष्ठी ये ही दोनों सृष्टि के पिता और माता हैं।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

९—हे अर्जुन, सत्त्वगुण से सुख बढ़ता है। रजोगुण से कर्म में आसक्ति होती है। तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद को बढ़ाता है।

१०—हे अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण होता है। सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रवल होता है। तमोगुण की वृद्धि सत्त्व और रज इन दोनों को दवा लेती है।

११—जब इस शरीर के सब इन्द्रिय-द्वारों में प्रकाश भर जाता है और ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब समझो कि सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है।

१२—हे अर्जुन, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, कर्म में प्रवृत्ति और उसका आरम्भ, अशान्ति और इच्छा उत्पन्न होती है।

१३—हे अर्जुन! तमोगुण के बढ़ने से प्रकाश की हानि और कर्म में मन न लगना, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

१४—जब प्राणी सत्त्वगुण बढ़ने की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होता है, तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों में जाता है।

१५—रजोगुण के बढ़ने से मृत्यु होने पर व्यक्ति को कर्म वन्धन में पड़े हुओं के बीच जन्म मिलता है। जो तमो गुण की अवस्था में प्राण छोड़ता है, वह ज्ञानरहित योनि में उत्पन्न होता है।

१६—सुकृत कर्म का निर्मल सात्त्विक फल होता है। रजो गुण का फल दुःख है। तमो गुण का फल अज्ञान है।

१७—सत्त्व गुण से ज्ञान और रजो गुण से लोभ होता है। तमो गुण से प्रमाद और मोह के साथ अज्ञान होता है।

१८—जो सत्त्व गुण में स्थित हैं वे ऊँचे लोकों को प्राप्त होते हैं। जो रजोगुणी स्वभाव के हैं, वे बीच में जाते हैं। नीचे गुण और आचार में लिपटे हुए तामस स्वभाव वाले नीचे लोकों में जाते हैं।

१९—जब ज्ञानी आत्मा इन तीन गुणों से अतिरिक्त और किसी को कर्ता नहीं समझता और जो गुणों से ऊपर है उसे जान लेता है, तो वह मेरे ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

२०—आत्मा देह से उत्पन्न इन तीन गुणों के ऊपर उठकर, जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से छूटकर, अमृत का उपभोग करता है।

अर्जुन ने कहा—

२१—हे प्रभु, कौन से लक्षणों से जाना जाय कि प्राणी इन तीन गुणों से ऊपर उठ गया है? किस आचार को ग्रहण करने से और कैसे इन तीन गुणों से छूटा जाता है?

श्रीभगवान् ने कहा—

२२—हे अर्जुन, सत्त्व गुण के प्रकाश, रजोगुण की कर्म में प्रवृत्ति और तमोगुण के मोह को जो जीवन में आया हुआ देखकर उनसे द्वेष नहीं करता और यदि वे न आए हों तो उन्हें चाहता नहीं,

२३—जो उदासीन की भाँति रहकर गुणों से विचलित नहीं होता, और गुण अपने-अपने रूप में प्रभाव दिखा रहे हैं, यह समझकर जो स्थिर रहता है और चेष्टा नहीं करता,

२४—जिसके लिए सुख-दुःख एक जैसे हैं, जो अपने आप में स्थित है, जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर, सोना एक जैसे हैं, जिसे प्रिय और अप्रिय दोनों समान हैं, जो धीर हैं, जो निन्दा और अपनी स्तुति को एक सा मानता है,

२५—जो मान और अपमान में एक सा रहता है, जो मित्र, शत्रु दोनों पक्षों को एक जैसा समझता है, जो सब कर्मों का परित्याग कर चुका है, वह तीन गुणों से ऊपर उठा हुआ गुणातीत कहलाता है।

२६—जो मुझे विना त्रुटि के भक्ति योग से भजता है, वह इन गुणों से ऊपर उठकर ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है।

ॐ तत् सत्। श्रीभगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुनसंवाद का गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

।। अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। १ ।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।। २ ।।

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—

१—यह संसार अविनाशी अश्वत्थ है। इसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं। वेद इसके पत्ते हैं। जो इसे जानता है वही सच्चा वेदज्ञ है।

२—इस वृक्ष की शाखाएँ नीचे भौतिक विश्व में और ऊपर अध्यात्म में ब्रह्मतत्त्व तक फैली हैं। सत्त्व, रज, तम तीन गुण उन्हें बढ़ाते हैं। उनमें से विषयों के अंकुर फूटते रहते हैं। इसकी जड़ें जो ऊपर थीं वे कर्मों के अनुसार मनुष्य लोक में भी नीचे की ओर फैलती हैं।[२]

---

१ उर्ध्व=ऊपर। यहाँ यह देशवाची शब्द नहीं है किन्तु इसका तात्पर्य आध्यात्मिक ब्रह्म तत्त्व से है जो विश्ववृक्ष का स्रोत है। ऋग्वेद में प्रश्न किया है 'क उ स वृक्ष आस' अर्थात् वह वृक्ष कौन था? इसका उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक मन्त्र में है—ब्रह्म स उ वृक्ष आस। ब्रह्म ही वह वृक्ष था जिससे द्युलोक और पृथ्वी का निर्माण किया गया। ऋग्वेद में कहा गया है—उर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति (ऋ०, १।१६४।१०)। इसी प्रकार अधः का तात्पर्य भौतिक मर्त्य जगत् से है। छंदांसि=वेद, त्रयी विद्या। ब्रह्माण्ड वृक्ष का प्रत्येक पत्ता एक-एक विश्व है जिसके केन्द्र में ऋक्, यजु, साम रूप त्रयी विद्या उसकी प्रतिष्ठा के रूप में विद्यमान है। वेद ज्ञानरूप हैं और प्रजापति के ज्ञान या ईक्षण से ही विश्व जन्म लेते हैं।

२ अधश्चोर्ध्वं—पहले श्लोक में शाखाओं का प्रसार अधः कहा है। यहाँ अधः, उर्ध्व दोनों ओर कहा गया है। पहली शुद्ध अध्यात्म दृष्टि है जिसे वेदान्त दृष्टि भी कह सकते हैं। दूसरी सख्या दृष्टि है जिसमें उर्ध्व पुरुष और अधः प्रकृति दोनों अनादि हैं। अतः संसार वृक्ष की सत्ता और प्रसार दोनों ओर है। केवल प्रकृति, केवल ईश्वर विश्व का कारण न होकर दोनों ही उसके जन्म में हेतु बनते हैं। इसीलिए अश्वत्थ की शाखाओं को प्रकृति के तीन गुणों से फुटाव लेनेवाली कहा है। पंच विषय या तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) से आगे पंचभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय रूपी अंकुर भी समझने चाहिए। जैसे नीचे की शाखाओं को उर्ध्व में कहा है वैसे ही उर्ध्व का मूल तत्त्व भी कर्मों के प्रभाव से नीचे के मनुष्य लोक में जीव रूप में आता है (कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके)।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल–
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै–
र्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

३–४—इसका जो अविनाशी रूप है वह इस नश्वर मनुष्य लोक में वैसा नहीं दिखाई पड़ता। दूसरी ओर नश्वर होने पर भी इसका आदि, अन्त और स्थिति दिखाई नहीं देती। खूब पक्की जड़ वाले इस अश्वत्थ को निष्काम कर्म रूपी दृढ शस्त्र से काटकर वह परमपद मोक्ष प्राप्त करना चाहिए जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता, उसी आद्य पुरुष को प्राप्त करना चाहिए जहाँ से इस अश्वत्थ वृक्ष की यह पुरानी प्रक्रिया आरम्भ हुई है।

५—मान और मोह से रहित, आसक्ति दोष को जीते हुए, सदा आत्मा में निरत, कामनाओं से मुक्त, सुख-दुःख में डालनेवाले द्वन्द्वों से छूटे हुए बुद्धिमान् पुरुष उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं।

६—उस पद को सूर्य प्रकाशित नहीं करता और न चन्द्रमा या अग्नि ही उसे प्रकट करते हैं। जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते वही मेरा परम धाम है।

७—मेरा ही सनातन अंश मनुष्यलोक में जीव रूप में आया हुआ है, जो प्रकृति से उत्पन्न पाँचों इन्द्रियों सहित छठे मन को अपने साथ ले आता है।

८—ईश्वर शरीर में आता है और उसे छोड़ जाता है। पर वह मन और इन्द्रियों के संस्कारों को अपने साथ ले जाता है जैसे वायु अनेक स्थानों से गन्ध को।

९—कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नाक इनके साथ मन का आश्रय लेकर देहस्थ जीव विषयों का सेवन करता है।

१०—शरीर छोड़ कर जाते हुए, शरीर में रहते या विषयों का भोग करते हुए इसके स्वरूप को मूर्ख नहीं पहचानते, पर ज्ञानी पहचानते हैं।

११—योगी लोग यत्न करते हुए इसे अपने भीतर ही स्थित देख लेते हैं। पर मूर्ख आत्मा को वश में न करने के कारण यत्न करते हुए भी इसे नहीं देख पाते।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

१२—जो सूर्य का तेज सारे संसार को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है उसे मेरा ही तेज समझो।

१३—मैं इस भौतिक जगत् में[1] प्रविष्ट होकर प्राणियों को अपने तेज से धारण करता हूँ। मैं रसात्मक सोम के रूप में समस्त ओषधियों को पोषण देता हूँ।

१४—मैं वैश्वानर अग्नि के रूप में सब प्राणियों की देह में स्थित हूँ और प्राण एवं अपान की शक्ति से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूँ।[2]

१५—मैं सबके हृद्देश में निवास करता हूँ। स्मृति और ज्ञान मेरे ही रहने से होता है और मेरे न रहने से उनका अभाव हो जाता है[3]। सब वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं। मैं ही वेदान्त का रचने वाला हूँ और वेदों का ज्ञाता मैं ही हूँ।

१६—इस लोक में ये दो पुरुष हैं—एक क्षर, दूसरा अक्षर। सब भूतों की संज्ञा क्षर है और भूतों के समूह में रहने वाला जीव अक्षर कहलाता है[4]।

१७—इन दोनों से पृथक् तीसरा पुरुषोत्तम परमात्मा कहा जाता है जो तीनों लोकों को व्याप्त करके अपने अव्यय ईश्वर रूप में उन्हें धारण करता है[5]।

---

१ गो=पृथ्वी अर्थात् भूत भौतिक जगत्।

२ वैश्वानर=भूत भौतिक या पार्थिव शरीर में समाविष्ट अध्यात्म प्राण तत्त्व की वैदिक संज्ञा वैश्वानर है। उसी की शक्ति प्राण और अपान रूप में प्रकट होती है और वही जठराग्नि के रूप में खाए हुए अन्न को पचाकर शक्ति उत्पन्न करता है।

३ अपोहन=अभाव या नाश।

४ क्षर=भूत। अक्षर=प्राण तत्त्व। क्षर और अक्षर की विद्या का स्रोत वेदों में था। कूट=भूतों का समूह या ढेर, जिसकी विधृति प्राण या अक्षर तत्त्व है। क्षर नश्वर है और अक्षर अविनाशी है।

५ क्षर=भौतिक शरीर, या प्रकृति। अक्षर=चैतन्य या जीव। अव्यय=परमात्मा पुरुष। ये ही तीन पुरुष वेद में मान्य थे। वहाँ अव्यय को प्रायः अज कहा गया है।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥२०॥

१८—क्योंकि मैं क्षर से ऊपर और अक्षर से भी श्रेष्ठ हूँ, अतएव लोक में और वेदमें मुझे पुरुषोत्तम कहा गया है।

१९—जो बुद्धिमान् मुझे ही पुरोषत्तम रूप में जानता है। हे अर्जुन, वह सर्वज्ञानी समग्र भाव से मुझे ही भजता है।

२०—हे निष्पाप, यह अत्यन्त गुह्य शास्त्र मैंने तुमसे कहा है। हे अर्जुन, इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और सफलमनोरथ वन जाता है।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।
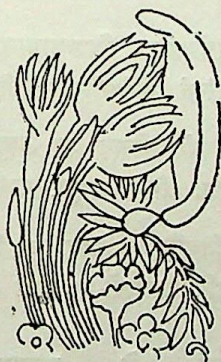
।। अथ षोडशोऽध्यायः ।।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। १ ।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। २ ।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। ३ ।।

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।। ४ ।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।। ५ ।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।। ६ ।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। ७ ।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ।। ८ ।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। ९ ।।

सोलहवाँ अध्याय

श्री भगवान् ने कहा--

१–३---हे अर्जुन, अभय, मन की शुद्धि, ज्ञान और योग में स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता (कुटिलता का अभाव), अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निष्कपटता, प्राणियों में दया, अलोभ, मृदुता, लज्जा, चञ्चलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौर्य, किसी से द्रोह न करना, अभिमान न करना, ये गुण दैवी संपत्ति के साथ जन्म लेने वाले मनुष्य म होते हैं।

४---हे अर्जुन, दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये आसुरी संपत् के साथ जन्म लेने वाले मनष्य में होते हैं।

५---दैवी संपत् से मोक्ष और आसुरी संपत् से वन्धन होता है। हे अर्जुन, तुम शोक मत करो क्योंकि तुम दैवी संपत् के साथ जन्मे हो।

६---इस लोक में प्राणियों के द्विविध जन्म हैं, एक दैवी, दूसरे आसुरी, दैवी जन्म का मैंने विस्तार से वर्णन किया। हे तात, आसुरी भी सुनो।

७---आसुरी स्वभाव के मनुष्य किस काम में लगना (प्रवृत्ति) और किसे छोड़ना (निवृत्ति), इसका भेद नहीं जानते। न उनमें पवित्रता, सदाचार और सत्य ही होता है।

८---वे कहते हैं कि यह संसार असत्य है। न इसकी कोई सत्ता है और न इसमें ईश्वर है। गुणों के परस्पर मिलने से इसका जन्म नहीं हुआ है (यह यदृच्छा से किसी तरह घटित हो गया है)। अतएव काम या विषय वासना के अतिरिक्त इसके जन्म का और क्या उद्देश्य है?

९---इस दृष्टिकोण को पकड़ कर नीच-आत्मा और अल्प-बुद्धि मनुष्य अपने क्रूर कर्मों से संसार के बैरी बनकर नाश करने पर उतारू होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

१०—कभी न तृप्त होने वाले काम का आश्रय लेकर, दम्भ, मान और मद से भरे हुए, मोह के कारण बुरे हठों को स्वीकार करके वे अपवित्र कर्मों को करते हैं।

११—वे मृत्यु के साथ ही मिटनेवाली अपार चिन्ता में पड़े रहते हैं। कामों के उपभोग में पड़े समझते हैं कि बस यह जो प्रत्यक्ष जगत् है केवल इतना ही सत्य है।

१२—वे आशा के सैकड़ों फंदों में जकड़े हुए, काम और क्रोध के वशीभत होकर कामभोग के लिए अन्याय से धन संग्रह करना चाहते हैं।

१३—आज इतना तो मुझे मिल गया, कल यह मनोरथ भी पूरा हो जायगा, इस समय इतना धन तो अपने पास है, इतना और भी आगे हो जायगा।

१४—यह शत्रु मैंने मार दिया, आगे औरों को भी मार लूँगा। मैं ऐश्वर्यवान् हूँ। मैं भोगी हूँ। मैं सिद्ध हूँ। मैं बलवान् हूँ। मैं सुखी हूँ।

१५—मैं धनी हूँ। मैं कुलीन हूँ। मेरे समान दूसरा और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, मौज करूँगा। इस प्रकार वे अज्ञान में भूले रहते हैं।

१६—अनेक प्रकार की चित्त वृत्तियों में भटके हुए, मोह के जाल से घिरे हुए और काम भोगों में फंसे हुए लोग गन्दे नरकों में गिरते हैं।

१७—अपनी प्रशंसा में फूले, अहंकार में जकड़े, धन और प्रतिष्ठा के मद में भरे वे लोग दिखावे के लिए विधिरहित यज्ञ करते रहते हैं।

१८-१९—अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेकर अपने और पराये शरीर में स्थित मेरे आत्मरूप से जो द्वेष और ईर्ष्या करते हैं, उन द्वेषी, क्रूर, अधम मनुष्यों को मैं अनेक लोकों की आसुरी योनियों में फेंकता रहता हूँ।

२०—हे अर्जुन, आसुरी योनि को प्राप्त वे मूढ़ जन्म-जन्म में मुझ तक न पहुँच कर और भी अधम गति को प्राप्त हो जाते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥
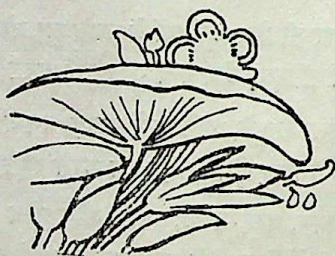
२१—यह काम, क्रोध और लोभ रूपी त्रिविध नरक का द्वार आत्मा का नाश करनेवाला है। अतएव इन तीनों से बचना चाहिए।

२२—हे अर्जुन, अहंकार के इन तीन द्वारों से छूटा हुआ मनुष्य जब आत्मा के कल्याण के लिए जीवन बिताता है तो उससे परम गति प्राप्त करता है।

२३—जो शास्त्र का मार्ग छोड़कर मनमाने ढंग से बरतता है वह न तो सिद्धि पाता है, न सुख और न परम गति।

२४—इसलिए क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसके निश्चय के लिए तुम शास्त्र को ही प्रमाण मानो और शास्त्र में बताए हुए कर्म को जान कर फिर उसे करो।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का दैवासुरसंपद्विभाग योग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।
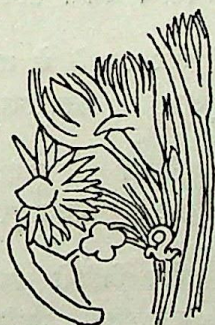
॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्धयासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा--

१--हे कृष्ण, जो शास्त्र में बताई विधि से हटकर भी श्रद्धा के साथ भजन करते हैं, उनके मार्ग को सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों में से क्या कहा जाय ?

श्रीभगवान् ने कहा--

२--प्राणियों में स्वभाव के साथ उत्पन्न होने वाली श्रद्धा तीन प्रकार की है--सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसे सुनो।

३--हे अर्जुन, हरेक मनुष्य में अपने-अपने मन की रुचि के अनुसार श्रद्धा होती है। यह पुरुष श्रद्धा से बना हुआ है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है।

४--सात्त्विक व्यक्ति देवताओं का पूजन करते हैं, रजोगुणी लोग यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं। दूसरे जो तामस मनुष्य हैं वे बहुत तरह के भूत-प्रेतों को पूजते हैं।

५-६--जो मनुष्य शास्त्र की विधि के बाहर घोर तप करते हैं वे दम्भ और अहंकार से भरकर कामबल और रागबल की प्रेरणा से भूतों के समूह शरीर को और उसमें रहने वाले मुझ आत्मा को नासमझी से कष्ट देते हैं। उन्हें आसुर विचारों से युक्त समझो।

७--सब मनुष्यों को प्रिय लगने वाला भोजन भी तीन प्रकार का होता है। यज्ञ, तप और दान, इनके भी तीन-तीन भेद सुनो।

८--आयु, मन, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले, मधुर, घृतयुक्त, स्थिर आहार सात्त्विक और प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

९—कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीखे, रूखे और जलन उत्पन्न करने वाले आहार राजसी स्वभाव वालों को अच्छे लगते हैं। उनसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं।

१०—पहर भर समय पहले बना हुआ जिसका स्वाद चला गया है, जिसमें फुई लग गई है और जो बासी हो गया है, जो जूठा छोड़ा हुआ या अपवित्र है ऐसा भोजन तामसी कहलाता है।

११—फल की इच्छा से रहित होकर शास्त्र की विधि से जो यज्ञ किया जाता है, यज्ञ करना उचित है जब मन की ऐसी उच्च भावना होती है, तब वह यज्ञ सात्त्विक है।

१२—हे अर्जुन, जो फल प्राप्त करने के हठ से और जो पाखण्ड या दिखावे के लिए यज्ञ किया जाता है उसे राजसी यज्ञ कहते हैं।

१३—जो विधि हीन है, जिसमें ब्रह्मभोज का प्रबंध नहीं है, जो मंत्रहीन, दक्षिणा से हीन और श्रद्धा से हीन है उसे तामस यज्ञ कहते हैं।

१४—देवता, ब्राह्मण, गुरु और पंडित का पूजन, पवित्रता, कोमलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर का तप कहलाता है।

१५—औरों को कष्ट न पहुँचाने वाला सत्य, प्रिय और हितकारी वचन, स्वाध्याय और विद्याभ्यास वाणी का तप कहा जाता है।

१६—मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्मसंयम, मनोभावों की पवित्रता इसे मन का तप कहते हैं।

१७—परम श्रद्धा से फल की इच्छा के बिना एकाग्रता से जो ऊपर कहा तीन प्रकार का तप होता है वह सात्त्विक तप है।

१८—सत्कार, मान और पूजा के लिए या दम्भ के साथ जो तप किया जाता है वह चञ्चल और अनित्य राजस तप कहलाता है।

१९—मूर्खतापूर्ण हठ से, आत्मा को पीड़ा देकर या दूसरे की हानि के लिए जो तप किया जाता है वह तामस तप कहा जाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

२०—देना चाहिए, यह समझकर जो दान बदला चुकाने वाले व्यक्ति को छोड़कर दिया जाता है और जहां दान देने के समय, स्थान और पात्र का ठीक विचार रक्खा जाता है वह दान सात्त्विक कहा गया है।

२१—जो अपने ऊपर किए हुए उपकार का बदला चुकाने के लिए या किसी फल की इच्छा से दुःख मान कर दान दिया जाता है वह राजस कहलाता है।

२२—जो दान प्रतिकूल देश और प्रतिकूल समय में अयोग्य पात्र को अपमान पूर्वक दिया जाता है वह तामस कहलाता है।

२३—'ॐ तत्सत्' यह तीन प्रकार का ब्रह्म निर्देश है। ब्राह्मण, वेद और यज्ञ इनका जन्म उसी ब्रह्म से पूर्वकाल में हुआ था।

२४—अतएव यज्ञ, दान और तप रूपी ॐ का उच्चारण करके ब्रह्मवादी लोग सदा शास्त्र विधि के अनुसार कर्म किया करते हैं।

२५—जो मोक्ष के इच्छुक हैं वे फल की शर्त के बिना यज्ञ, तप और दान की विविध क्रियाओं को करते हैं।

२६—हे अर्जुन, 'सत्' शब्द का प्रयोग सत्ताभाव, साधुत्व और उत्तम कर्म इन अर्थों में किया जाता है।

२७—यज्ञ, तप और दान में जो स्थित है उसे भी सत् कहते हैं। उनके संवन्ध में जो कर्म किया जाता है वह भी सत् कहा जाता है।

२८—हे अर्जुन, श्रद्धा के बिना किया हुआ यज्ञ, दान, तप और कर्म असत् कहलाता है। न वह परलोक में काम आता है, न यहाँ।

ॐ तत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

——

।। अथाष्टादशोऽध्यायः ।।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। २ ।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। ३ ।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।। ४ ।।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। ५ ।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। ६ ।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। ७ ।।

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। ८ ।।

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।। ९ ।।

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१—हे महाबाहु कृष्ण, हे केशव, मैं जानना चाहता हूँ कि कर्म-संन्यास का तत्त्व क्या है ? और, उससे पृथक् कर्मयोग का तत्त्व क्या है ?

श्री भगवान् ने कहा—

२—बुद्धिमान् पुरुषों का कहना है कि काम्य कर्मों का त्याग ही कर्म-संन्यास है और सब कर्मों के फल का त्याग ही (बुद्धिमानों की दृष्टि में) कर्मयोग प्रतिपादित त्याग है।[1]

३—कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि कर्म दोषयुक्त होने से त्याज्य है। एवं दूसरों का मत है कि दान, तप और कर्म कभी भी त्याज्य नहीं हैं।

४—हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में मेरा निश्चित मत सुनो। हे पुरुषसिंह, त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

५—यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म त्याज्य नहीं हैं, इन्हें करना ही चाहिए। यज्ञ, दान और तप ये कर्म बुद्धिमानों को पवित्र बनाते हैं।

६—हे अर्जुन, इन कर्मों को भी आसक्ति और फल की इच्छा छोड़ कर करना चाहिए। यह मेरा निश्चित मत है।

७—नियत कर्म का संन्यास ठीक नहीं है। मोहवश उसे छोड़ देना तमोगुणी त्याग कहलाता है।

८—जिस कर्म को दुःख मानकर शरीर को कष्ट पहुँचने के डर से मनुष्य छोड़ देता है वह राजस त्याग है। वैसा करने से त्याग का फल नहीं मिलता।

९—हे अर्जुन, अवश्य करना है—यह समझ कर जो कर्म संग और फल को छोड़कर किया जाता है उसे सात्त्विक त्याग कहते हैं।

---

१ यहाँ सांख्यों के संन्यास शब्द को लेते हुए उसकी कर्मयोगानुकूल नई व्याख्या की गई है।

न द्वेष्टचकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति[1] न निबध्यते ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

१०—अपने लिए अहितकर कर्म से जो द्वेष नहीं करता और अपने लिए हितकर कर्म में जो आसक्ति नहीं रखता, ऐसा सत्त्वभाव से युक्त बुद्धिमान् त्यागी संशय रहित हो जाता है।

११—देहधारी कर्मों को बिलकुल नहीं छोड़ सकता। अतएव जो कर्म का नहीं, कर्मफल का त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी है।

१२—प्रतिकूल, अनुकूल और मिश्रित, यों तीन प्रकार का कर्म का फल होता है। वह मृत्यु के बाद कर्म फल का त्याग करने वाले कर्मयोगियों को मिलता है, संन्यासियों को नहीं।

१३—हे महाबाहु, वे पाँच कारण मुझसे सुनो जो सब कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य दर्शन में कहे गए हैं।

१४—कर्म का आलंबन अर्थात् शरीर, कर्म करने वाला कर्त्ता (आत्मा), ज्ञान और कर्म की विविध इन्द्रियाँ, भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ या कर्म, और पाँचवाँ दैव या अदृश्य—कर्म के ये पाँच अंग हैं।

१५—मनुष्य शरीर वाणी और मन से जिस कर्म को आरम्भ करता है, वह चाहे धर्मानुकूल हो या धर्मविरुद्ध हो—ये पाँचों ही उसमें निमित्त बनते हैं।

१६—जब सिद्धान्ततः ऐसा है तो जो मूर्खतावश केवल अपने को कर्ता मान बैठता है वह ठीक नहीं समझता।

१७—जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, और जिसकी बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होती, वह इन सब लोकों का मारने वाला होकर भी न मारता है और न उस दोष से लिप्त होता है।

१८—कर्म करने की आदेश-विधि के तीन अंग हैं। एक तो जाननेवाला होना चाहिए, दूसरे जिस कर्म के विषय में जानना है वह होना चाहिए और तीसरे इन दोनों को मिलाने वाला जो ज्ञान है वह होना चाहिए। कर्म का वास्तविक कार्य इन तीनों पर निर्भर है एक करनेवाला, दूसरा कर्म और तीसरा उन दोनों को मिलाने वाला व्यापार या क्रिया।

---

१ न हन्ति—वह व्यक्ति प्रकृति के गुणों को कर्ता मानता है, अपने आपको नहीं। इसलिए उसकी बुद्धि में यह भाव रहता है कि असली मारनेवाला मैं नहीं हूँ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यत् तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत् तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

१९—गुणों के भेद से ज्ञान, कर्म और कर्त्ता इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। गुणों की व्याख्या में इनका उपदेश किया जाता है। तुम उन्हें भी सुनो।

२०—जिसके द्वारा सब प्राणियों में एक अविनाशी भाव दिखाई पड़ता है और अलग-अलग सत्ताओं के होते हुए भी सब में एक सत्ता दिखाई पड़ती है वह सात्त्विक ज्ञान है।

२१—जिस ज्ञान के द्वारा सब भूतों के अलग-अलग होने का अनुभव होता है वह राजस ज्ञान समझो।

२२—जो एक काम में ही बिना कारण पूरी तरह आसक्त हो जाता है और जो तत्त्वहीन और क्षुद्र है उसे तामस ज्ञान कहते हैं।

२३—जो सुनिश्चित आसक्ति से रहित, राग और द्वेष से रहित और फल की कामना के बिना किया जाता है वह सात्त्विक कर्म कहा जाता है।

२४—जो कामपूर्ति की इच्छा से और अहंकार के साथ बहुत झंझट से किया जाता है वह राजस कर्म है।

२५—होने वाले परिणाम, हानि, परपीड़ा और शक्ति का विचार न करके, मोहपूर्वक जो काम किया जाता है उसे तामस कहते हैं।

२६—आसक्तिरहित, अहंकाररहित, धैर्य और उत्साह से युक्त, सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहनेवाला कर्ता सात्त्विक कहलाता है।

२७—आसक्तियुक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी, हिंसायुक्त, अपवित्र, हर्ष और शोक का अनुभव करने वाला कर्ता राजस कहलाता है।

२८—जो चंचल बुद्धिवाला, गँवार, हठी, शठ, परपीड़क, आलसी, सदा मन मारकर रहने वाला, काम में देरी करने वाला है, वह तामस कर्ता कहा जाता है।

२९—गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति के भी तीन भेद हैं, उन्हें सुनो। हे अर्जुन, मैं पूरी तरह अलग-अलग उन्हें कहता हूँ।

३०—हे अर्जुन, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बंधन एवं मोक्ष के भेद को जो जानती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।३४।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।३५।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।

यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत् तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।।४०।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।

३१—हे अर्जुन जिसके द्वारा व्यक्ति धर्म और अधर्म को एवं कार्य और अकार्य को ठीक-ठीक नहीं जान पाता, वह राजसी बुद्धि है।

३२—अन्धकार से भरी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सब वातों को उलटा ही समझती है वह तामसी बुद्धि कही जाती है।

३३—हे अर्जुन, जिस अचञ्चल धृति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को योग युक्त होकर ठीक प्रकार संभालता है, वह सात्त्विकी धृति होती है।

३४—हे अर्जुन, जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म, और काम को आसक्ति भाव और फल की इच्छा रखकर संभालता है, वह राजसी धृति कही जाती है।

३५—हे अर्जुन, दुर्बुद्धि के द्वारा जब मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ता तब उसे तामसी धृति समझो।

३६-३७—हे अर्जुन, अब मुझसे तीन प्रकार के सुखों का भेद सुनो। अपने पूर्व अभ्यास के कारण मनुष्य जिसमें रमा रहता है, जिससे दुःख का अन्त होता है, जो पहले विष के समान जान पड़ता है किन्तु अंत में जिसका फल अमृत के समान होता है, उसे सात्त्विक सुख कहते हैं। वह आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता उत्पन्न करता है।

३८—विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो पहले अमृत जैसा जान पड़ता है, पर अंत में जो विष की भाँति दुखदायी होता है वह राजस सुख कहा गया है।

३९—जो पहले और पीछे आत्मा में मोह उत्पन्न करने वाला है और जिसमें निद्रा, प्रमाद और आलस्य भरे हैं वह तामस सुख कहा गया है।

४०—पृथिवी में और स्वर्ग के देवताओं में भी ऐसा कोई जीवधारी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से छूटा हुआ हो।

४१—हे अर्जुन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म, स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण अलग-अलग होते हैं।

४२—शम, दम, तप, पवित्रता, ऋजुता (हृदय का सीधापन), ज्ञान, विज्ञान, ईश्वर-विश्वास, ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ।।४३।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।

विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

४३—शौर्य, तेज, धृति, कुशलता, युद्ध से न भागना, दान और ऐश्वर्य का भाव, ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

४४—खेती, गोरक्षा और व्यापार, ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। सेवा शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

४५—अपने-अपने कर्म को करते हुए ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। अपने कर्म में लग कर मनुष्य जैसे सिद्धि प्राप्त करता है वह सुनो।

४६—सब प्राणियों की प्रवृत्ति का जो स्रोत है और जिसने सब विश्व का निर्माण किया है, अपने कर्म द्वारा उसी भगवान् की उपासना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

४७—अपना धर्म गुणहीन हो तो भी दूसरे के धर्म से चाहे वह कितना ही अच्छा हो, अधिक कल्याणकारी है। जो कर्म अपने लिए स्वभाव से निश्चित है उसे करते हुए मनुष्य को पाप नहीं लगता।

४८—हे अर्जुन, मनुष्य को अपना स्वाभाविक कर्म चाहे वह दोषयुक्त भी हो छोड़ना नहीं चाहिए। जितने कर्म हैं सबमें कुछ न कुछ दोष होता ही है, जैसे आग में धुँआ।

४९—जो व्यक्ति सर्वत्र अनासक्त बुद्धि से आत्मा को वश में करके और इच्छारहित होकर कर्म करता है वह अपने उस संन्यास द्वारा निष्कर्म भाव का परम फल प्राप्त करता है।

५०—नैष्कर्म्य की सिद्धि पा लेने से मनुष्य जिस प्रकार ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है उसे संक्षेप में मुझसे सुनो। हे अर्जुन, वही ज्ञान की पराकाष्ठा है।

५१-५३—विशुद्ध बुद्धि से योग युक्त बनकर और धृति द्वारा आत्मा को वश में करके, शब्द आदि विषयों को छोड़कर, राग, और द्वेष को हटाकर, एकान्त में निवास करते हुए अल्पाहारी बनकर, मन, वचन और शरीर के संयम द्वारा सदा ध्यान योग में लगा हुआ, वैराग्य का आश्रय लेकर, अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध और सम्पत्ति का लोभ छोड़कर, ममता रहित, शान्त रहनेवाला मनुष्य ब्रह्मभाव प्राप्त करने के योग्य बन जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

५४—ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता है और न कुछ इच्छा करता है। सब प्राणियों में समान भाव रखने वाला मनुष्य मेरी परम भक्ति पाता है।

५५—मैं जितना और जैसा हूँ, मेरे उस स्वरूप को भक्तिद्वारा वह ठीक प्रकार जान लेता है। तब मुझे ठीक प्रकार जान लेने से मनुष्य मुझमें ही लीन हो जाता है।

५६—मेरी शरण लेकर सब कर्मों को करता हुआ वह मेरी कृपा से शाश्वत अव्यय पद या मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

५७—चित्त से सब कर्मों का मुझमें संन्यास करके और मुझे ही अपना सब कुछ मानकर बुद्धियोग का आश्रय लेते हुए मुझ में ही अपने चित्त को सदा लगाओ।

५८—मुझमें चित्त लगाने से मेरा अनुग्रह प्राप्त करके सब कठिनाइयों के पार हो जाओगे। यदि तुम अपने अहंकार के कारण मेरी बात न सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे।

५९—यदि अहंकार में पड़कर तुम समझते हो कि तुम युद्ध न करोगे तो तुम्हारा ऐसा सोचना भ्रम है क्योंकि प्रकृति तुम्हें उसी ओर खींच ले जायेगी।

६०—हे अर्जुन, स्वभाव से उत्पन्न जो तुम्हारा कर्म है उससे बंधकर तुम्हें लाचार होकर वही कर्म करना पड़ेगा जिसे करना तुम अभी नहीं चाहते।

६१—हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृद्देश में निवास करते हैं, और चाक पर चढ़े हुए प्राणियों को अपनी माया से घुमाते हैं।

६२—हे भारत, अपने मन की समस्त शक्ति से उसी ईश्वर की शरण में जाओ। उस भगवान् की कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत पद मोक्ष प्राप्त करोगे।

६३—इस प्रकार मैंने गुप्त से भी अधिक गुप्त ज्ञान तुमसे कहा है। इस पर पूरी तरह विचार करके जैसा चाहो वैसा करो।

६४—और भी मेरी अधिकतम गुप्त बात सुनो। तुम मेरे बहुत प्रिय हो, इसलिए तुम्हारे हित की बात कहता हूँ—

मन्मना भव मद्‌भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्‌भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

संजय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्‌भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्‌गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥

६५——अपना मन मुझमें लगाओ। मेरे भक्त बनो। मेरे लिए यजन करो। मुझे प्रणाम करो। तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम मुझे प्रिय हो।

६६——सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आओ। मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूँगा। शोक मत करो।

६७——यह ज्ञान तुम उसे कभी मत देना जो तपस्वी न हो और भक्त न हो। उससे भी मत कहना जो गुरु की सेवा करने वाला न हो, अथवा जो मुझसे ईर्ष्या रखता हो।

६८——जो इस परम पवित्र ज्ञान को मेरे भक्तों को सुनायेगा, मेरी परम भक्ति करने वाला वह निःसंदेह मुझे ही प्राप्त कर लेगा।

६९——मनुष्यों में कोई भी उससे अधिक मेरा प्रिय कर्म करने वाला नहीं हैं और पृथिवी भर में कोई भी मुझे उससे अधिक प्यारा नहीं है।

७०——हम दोनों के इस धार्मिक संवाद को जो पढ़ेगा वह ज्ञान-यज्ञ के द्वारा मेरा यजन करेगा, ऐसा मेरा विचार है।

७१——और भी जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त और ईर्ष्या से रहित होकर इसे सुनेगा वह भी अपने पवित्र कर्म के प्रभाव से पवित्र लोकों को प्राप्त करेगा।

७२——हे अर्जुन, क्या तुमने एकाग्र मन से इसे सुना? हे परन्तप, क्या अज्ञान से उत्पन्न तुम्हारा मोह दूर हुआ?

अर्जुन ने कहा——

७३——हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह जाता रहा और मुझे ठीक बुद्धि मिल गई। अब मैं संदेह-मुक्त हो गया हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

संजय ने कहा——

७४——इस प्रकार मैंने महात्मा कृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और रोमांचकारी संवाद को सुना।

७५——मैंने व्यास की कृपा से इस परम गुह्यतम योग को साक्षात् योगेश्वर भगवान् कृष्ण के मुख से ही सुना।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।।१८।।

।। इति श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रं संपूर्णम् ।।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।
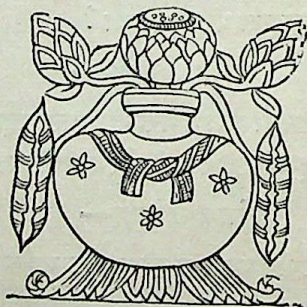
७६—हे राजन्, कृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र संवाद का बार-बार स्मरण करके मैं पुनः पुनः हर्षित हो रहा हूँ।

७७—भगवान् के उस अत्यन्त अद्भुत रूप का पुनः पुनः स्मरण करके हे राजन्, मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है और मेरा मन रह-रह कर आनंद से भरा जाता है।

७८—जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, और वैभव हैं। इन दोनों का संयोग ही पक्की नीति है, ऐसा मेरा विचार है।

ॐतत्सत्। श्री भगवान् के गाए हुए उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में और योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।